गुजरात के सबक

प्रेम सिंह

गुजरात के सबक

प्रेम सिंह

Gujrat Ke Sabak

by

Prem Singh

प्रथम संस्करण : फरवरी 2004
दूसरा संस्करण : मार्च 2009
तीसरा संस्करण : नवंबर 2015

पुस्तिका का कोई कॉपीराइट नहीं है।

सहयोग राशि : 50/ रूपये

आवरण :
प्रसाद देशपांडे

प्रकाशक :
प्रकाशन लेखक ने खुद किया है।

मुद्रक :
सुभाषिनी ऑफसेट प्रिंटर्स
एफ - 10, जगदीश नगर, पटेल नगर - III
गाजियाबाद 201001 (यूपी)

टाइप सेट :
प्रिंटवैल ग्राफिक्स
एच - 87 सी, गढ़वाली मोहल्ला, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

सीमांत गांधी की मशाल जलाए दिलों को जोड़ने में जुटे

खुदाई खिदमतगार

के साथियों को सप्रेम समर्पित

प्राक्कथन

प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी हाल ही में गुजरात गए थे। वहाँ उन्होंने गुजरात दंगों के 'नायक' नरेंद्र मोदी को गले लगाते हुए, दंगों में बरबाद हुए लोगों को पिछली बातें भूल जाने का 'उपदेश' दिया। प्रधानमंत्री के पद की गरिमा व दायित्व और मानवीय संवेदना का तकाजा यह बनता था कि वे मुख्यमंत्री से दंगों में बरबाद हुए लोगों के लिए उनकी सरकार द्वारा किए जा रहे प्रशासनिक और मानवीय उपायों की बाबत दरयाफ्त करते। और भी उचित यह होता कि गोधरा और फिर बाकी गुजरात में मारे गए निर्दोष लोगों के परिजनों से मिलते। देश की जनता के सामने उनके गुजरात दौरे की यह मुख्य खबर बनती। सरकार ने समय से पहले ही चुनावों की घोषणा कर दी है। आशा थी कि चुनावों में मुसलमानों को लुभाने के लिए ही सही, वे इस तरह का कुछ करेंगे। लेकिन फिर याद आया कि वे तो काफी पहले यह घोषणा कर चुके हैं कि भाजपा को चुनाव जीतने के लिए मुसलमानों के वोटों की जरूरत नहीं है। यह घोषणा उन्होंने उत्तर प्रदेश की एक चुनावी सभा में की थी।

दंगों के समय ही उनमें गुजरात सरकार की संलिप्तता जाहिर हो गई थी। केंद्र की निष्क्रियता पर भी चौतरफा सवाल उठ खड़े हुए थे। राजग में शामिल भाजपा और शिवसेना के अलावा धर्मनिरपेक्ष कहे जाने वाले नेताओं की भूमिका पर भी सवाल उठाए गए। इस सबके बावजूद मोदी ने वहाँ चुनाव जीता। देश की सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस ने 'नरम हिंदुत्व' का सहारा लिया। गोया संविधान में गरम सांप्रदायिकता की मनाही और नरम सांप्रदायिकता की व्यवस्था की गई हो! भाजपा नीत राजग में शामिल तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादियों की कौन कहे, मनुवाद की घोषित विरोधी बसपा पार्टी की सुप्रीमो मायावती नरेंद्र मोदी के पक्ष में बाकायदा चुनाव प्रचार करने गुजरात पहुँची। मुलायम सिंह कल्याण सिंह से मिल गए, जो अपनी कुछ अंदरूनी शिकायतों के चलते अपने स्वाभाविक संगठन से कुछ समय के लिए बाहर आ गए थे। उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी की सरकार बनने के पीछे भाजपा से मिलीभगत की खबरें भी सुर्खियों में रहीं और उसके कुछ प्रमाण भी सामने आए। महाराष्ट्र में शिवसेना ने भीमसेना को अपने साथ मिलाने का नारा दिया। इधर आम चुनावों की घोषणा होते ही लोकसभा के पूर्व अध्यक्ष पीए संगमा ने राजग से हाथ मिला लिया है। तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता के राजग के साथ मिलने की बात चल रही है। वे पहले भी राजग में आवा–जाही करती रहीं हैं। वहाँ पूर्व मुख्यमंत्री करुणानिधि का भी वही हाल है। अगर भाजपा जयललिता को साथ नहीं लेती, तो वे खुद एक बार फिर राजग में शामिल होते। खबरों के मुताबिक, राजग सरकार में मंत्री रह चुके रामविलास पासवान की लोक जनशक्ति पार्टी के भीतर पलड़ा एक बार फिर राजग में शामिल होने के पक्ष में झुका हुआ है। लोजपा सुप्रीमो भाजपा द्वारा मायावती को समर्थन देने के फैसले से नाराज होकर राजग से बाहर आए थे। तब से वे भारत से लेकर पाकिस्तान तक सांप्रदायिक ताकतों के खिलाफ ताल ठोंकते घूम रहे हैं। कौन कहे कि वे चुनाव

से पहले या चुनाव के बाद फिर भाजपा के साथ नहीं चले जाएँगे। भारत की दोनों बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियाँ सांप्रदायिकता के विरोध के लिए कांग्रेस की मुखापेक्षी रहती हैं, लेकिन उसके 'नरम हिंदुत्व' पर सवाल उठाने की हिम्मत नहीं जुटा पातीं। ऐसे में राजग के खिलाफ बनने वाला धर्मनिरपेक्ष दलों का गठबंधन एक अर्द्धसत्य ही कहा जाएगा।

राजनैतिक पार्टियों के इस खेल से अलग अगर मीडिया, विशेषकर अंग्रेजी मीडिया पर नजर डालें तो वहाँ भी 'लाइन' साफ नजर आती है। ज्यादातर मीडिया को सांप्रदायिक भाजपा और उसके नेतृत्व से कोई शिकायत नहीं है, बशर्ते वह वैश्वीकरणवादी—साम्राज्यवादी ताकतों के साथ मिल कर उसके सपनों के भारत को अंजाम देने में इसी तरह लगी रहे। यह सब दर्शाता है कि देश में धर्मनिरपेक्षता की राजनीति और विचारधारा की 'फ्लॉपी' को सांप्रदायिकता के 'वायरस' ने 'करप्ट' कर दिया है। लगता यही है कि आगे की राजनीति में लंबे समय तक धर्मनिरपेक्षता एक संविधान—सम्मत मूल्य न रह कर, चुनावी खेल का खिलौना बन कर रहेगा। संघ संप्रदाय की अभी तक की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है।

दो साल पहले हुए गुजरात के दंगों पर मैंने 'जनसत्ता', 'हिंदुस्तान' और 'राष्ट्रीय सहारा' में कई लेख लिखे थे। लेखों में एक सामान्य नागरिक की चिंता के साथ, धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य पर आए संकट को लेकर कई कोणों से विचार किया गया है। ऊपर बताई गई स्थिति के मद्देनजर मुझे उन लेखों का पुस्तिकाकार प्रकाशन प्रासंगिक लगता है। इसीलिए उन्हें एक लंबे निबंध के रूप में प्रकाशित किया गया है।

पुस्तिका का कोई कॉपीराइट नहीं है। भारत के संविधान में निहित धर्मनिरपेक्षता के मूल्य और मानवोचित संवेदना में विश्वास रखने वाला कोई भी नागरिक या संगठन पुस्तिका का अपनी ओर से प्रकाशन या अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कर सकता है। उपरोक्त तीनों अखबारों के संपादकों और संपादकीय पृष्ठ के प्रभारी पत्रकार साथियों का मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

फरवरी 2004

दूसरा संस्करण

यह पुस्तिका पिछले 2004 के आम चुनाव के पहले प्रकाशित की गई थी। हमारा मानना है कि 'गुजरात के सबक' पांच साल बाद होने जा रहे वर्तमान आम चुनाव में भी प्रासंगिक है। नए संस्करण में 'गुजरात के सबक' के बाद प्रकाशित चार और लेख शामिल किए गए हैं। सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर हमने जो चिंता सामने रखी थी, पिछले पांच सालों में वह और बढ़ी है। अब हम आतंकवाद की चपेट तक पहुंच गए हैं।

मार्च 2009

तीसरा संस्करण

पुस्तिका का दूसरा संस्करण करीब तीन साल पहले खत्म हो गया था। साथियों की सलाह पर तीसरा संस्करण छापा गया है। तीसरे संस्करण में चार लेख 'कट्टरता की जीत का फैसला' ('युवा संवाद', नवंबर 2010 अंक में और उसके बाद डॉ. कर्दम द्वारा संपादित 'दलित साहित्य वार्षिकी' में प्रकाशित), 'धर्मनिरपेक्षता के दावेदार : कितने गाफिल कितने खबरदार!' (किंचित संपादित रूप 'गुलगुलों से परहेज' शीर्षक से जून 2012 में 'जनसत्ता' में प्रकाशित), 'ताकि मोदी भी जीत जाए और मुसलमानों के वोट भी मिल जाएं', ' 'आप' से नहीं बचेगी धर्मनिरपेक्षता', 'ताकि सनद रहे : कारपोरेट के पक्ष में राजनीतिक एका' (सभी 2014 में साथी अमलेंदु उपाध्याय द्वारा 'हस्तक्षेप डॉट कॉम' पर प्रकाशित) शामिल किए गए हैं। 'गुजरात के सबक' के पहले संस्करण के साथ 'मिलिए योग्य प्रधानमंत्री से' पुस्तिका का भी प्रकाशन किया गया था। उसमें जिसमें भाजपा नेता अटल बिहारी वाजपेयी की राजनीतिक विचारधारा और शैली का विश्लेषण किया गया है। वह पुस्तिका 'गुजरात के सबक' की पूरक है। उसका दूसरा संस्करण जल्दी प्रकाशित किया जाएगा। युवा संवाद प्रकाशन की ओर से प्रकाशित 'संविधान पर भारी सांप्रदायिकता' (2013) पुस्तिका (उर्दू व अंग्रेजी में भी उपलब्ध) 'गुजरात के सबक' का अभिन्न अध्याय है। वह अलग से उपलब्ध है, लिहाजा, उसे इस पुस्तिका में शामिल नहीं किया गया है।

गुजरात की त्रासदी को घटित हुए करीब डेढ़ दशक हो गया है। इस बीच 'गुजरात' का बढ़ाव पूरे देश में होता जा रहा है। विदेशों में बसे भारतीय भी उसका दम भर रहे हैं। कहना होगा कि हमने उस त्रासदी से सही सबक नहीं लिया है। भारत का शासक वर्ग संविधान की मूल चेतना को काफी पहले निरर्थक बना चुका है; अब राज्य व उससे संबद्ध संस्थाओं को भी तेजी से क्षतिग्रस्त कर रहा है। नतीजतन सामाजिक–सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया तेजी पकड़ रही है। लिहाजा, यह मुनासिब होगा कि देश के नागरिक 2002 से लेकर अब तक की घटनाओं का एक बार फिर गंभीरतापूर्व आकलन कर अपना कर्तव्य निर्धारित करें।

अक्तूबर 2015

क्रम–सूची

खंड : एक

गुजरात की त्रासदी 8

खंड : दो

गुजरात की त्रासदी के बाद 38

गुजरात प्रयोग के बाद की तैयारी 39

सोनिया के सेकुलर सिपाही 43

मुंबई में आतंकवादी वारदात : अगली का इंतजार 48

आगामी आमचुनाव की राजनीति का चेहरा 60

खंड : तीन

पूरे देश में फैलता 'गुजरात' 68

कट्टरता की जीत का फैसला! 69

धर्मनिरपेक्षता के दावेदार : कितने गाफिल कितने खबरदार! 82

ताकि मोदी भी जीत जाए और मुसलमानों के वोट भी मिल जाए 87

आप' से नहीं बचेगी धर्मनिरपेक्षता 92

ताकि सनद रहे : कारपोरेट के पक्ष में राजनीतिक एका 97

खंड : एक
गुजरात की त्रासदी

गुजरात राज्य के गोधरा स्टेशन पर 27 फरवरी 2002 को साबरमती एक्सप्रेस के एक डिब्बे को बंद करके आग लगा दी गई, जिसमें 58 लोगों की जल कर दर्दनाक मौत हो गई। इस जघन्य कृत्य का शिकार ज्यादातर अयोध्या से लौटने वाले वे यात्री हुए जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक संगठन विश्व हिंदू परिषद के आह्वान पर वहाँ पहुँचे थे। प्रथम दृष्ट्या यही माना गया कि डिब्बे को आग के हवाले करने वाले अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय के लोग थे। राज्य और केंद्र के भाजपा नेतृत्व समेत पूरे संघ संप्रदाय ने पूरी ताकत से यह प्रचार किया कि गोधरा कांड के बाद जो कुछ हुआ वह क्रिया की स्वाभाविक और वाजिब प्रतिक्रिया था। उनके मुताबिक, अगर संसद और उसके बाहर धर्मनिरपेक्षतावादी लोग गोधरा कांड की तत्काल और भरपूर निंदा करते तो गोधरा कांड के बाद हुई मुसलमानों को जलाए जाने और और उनकी संपत्तियों को लूटने व नष्ट करने की घटनाएँ नहीं होतीं। संघ संप्रदाय की इस प्रतिक्रिया में दो बातें स्पष्ट हैं। पहली यह कि सांप्रदायिक कृत्यों की निंदा करना उसका नहीं, केवल धर्मनिरपेक्षतावादियों का काम है। उसका अपना काम सांप्रदायिक 'क्रिया' की सांप्रदायिक 'प्रतिक्रिया' होने देना है। इस तरह वह खुद अपने को एक सांप्रदायिक संगठन स्वीकार करता है। दूसरी यह कि किसी राज्य में नागरिकों के जान–माल की रक्षा के संवैधानिक कर्तव्य को निभाने की जिम्मेदारी वहाँ की सरकार की नहीं होती।

बहरहाल, इस प्रचार में गुजरात के मुख्यमंत्री से लेकर देश के प्रधानमंत्री तक, संघ संप्रदाय के सभी नेता एकजुट होकर शामिल थे। उनका यह प्रचार इतना प्रभावी रहा कि कई महत्वपूर्ण 'मॉडरेट' पत्रकार और नागरिक भी उससे प्रभावित हो गए। कुल मिला कर गोधरा कांड के बाद की घटनाओं का ठीकरा धर्मनिरपेक्षतावादियों के सिर पर फोड़ने की भरपूर कोशिश की गई। झूठे प्रचार में यह सच्चाई अनदेखी कर दी गई कि न केवल धर्मनिरपेक्षतावादियों, बल्कि देश के महत्वपूर्ण मुस्लिम नेताओं और संगठनों ने गोधरा कांड की कड़ी भर्त्सना और निंदा करते हुए दोषियों को पकड़ने और उनके खिलाफ कड़ी कानूनी कार्रवाई करने की माँग की थी। जहाँ तक संसद में निंदा न होने का सवाल है, संसद प्रधानमंत्री और गृहमंत्री की मौजूदगी और सरपरस्ती में वित्त विधेयक पास करने में मशगूल थी। संघ संप्रदाय का सदस्य होने के चलते वे तो खैर निंदा करने के दायित्व से मुक्त थे, लेकिन अगर संसद में विपक्ष द्वारा निंदा करने से ही गोधरा कांड के बाद का गुजरात कांड टल सकता था तो देश के प्रधानमंत्री और गृह मंत्री कम से कम विपक्ष को निंदा के लिए ललकार तो सकते थे।

घटना के कुछ ही समय बाद आई फोरेंसिंक विभाग की रपट के बाद पाकिस्तान ने आरोप लगाया कि गोधरा कांड के लिए जिम्मेदार उग्र हिंदुत्ववादी संगठन ही हैं। पाकिस्तान का वह आरोप वैसा ही था जैसा सरकार ने गोधरा कांड के पीछे पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी आईएसआई का हाथ होने का आरोप लगाया था।

मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी ने एक अवकाश प्राप्त जज को गोधरा कांड की न्यायिक जाँच के लिए नियुक्त किया। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की गोधरा और के बाद की घटनाओं की

सीबीआई से जाँच कराने की माँग को उन्होंने सीधे ठुकरा दिया। विपक्ष और कई नागरिक संगठनों द्वारा की गई सुप्रीम कोर्ट के सेवारत न्यायधीश से जाँच कराने की माँग भी नरेंद्र मोदी ने नहीं मानी। जाहिर है, सरकार की मंशा केवल गोधरा कांड की न्यायिक जाँच कराने में ही थी। मुसलमानों के जीवन का उसकी नजर में कोई मोल नहीं है। गुजरात सरकार ने मारे गए मुसलमानों को मुआवजा भी मारे गए हिंदुओं से कम देने की घोषणा की थी। यह भी लगता है कि न्यायिक जाँच में स्थानीय मुसलमानों को ही गोधरा कांड के लिए जिम्मेदार ठहराया जाएगा। जबकि गोधरा कांड के 24 घटे बाद तक गोधरा में किसी तरह की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। प्रतिक्रिया हुई गुजरात के अन्य शहरों में, जब विश्व हिंदू परिषद ने 28 फरवरी को गुजरात बंद किया। नरेंद्र मोदी द्वारा बैठाए गए जाँच आयोग की निष्पक्षता पर प्रश्नचिन्ह लगाने वाले लोगों का यह संदेह निराधार नहीं था कि इसके मार्फत 'क्रिया की प्रतिक्रिया' के सिंद्धांत की ही पुष्टि की जाएगी। ऐसे में यह जरूरी है कि गोधरा और उसके बाद की सांप्रदायिक हिंसा दोनों की जाँच सुप्रीम कोर्ट के किसी सेवारत न्यायधीश से कराई जाती। दरअसल, मोदी की रुचि गोधरा कांड की निष्पक्ष जाँच में भी नहीं थी; उनकी रुचि गोधरा कांड के बाद की घटनाओं के औचित्य प्रतिपादन में थी। मोदी सहित पूरा संघ संप्रदाय गोधरा कांड के 24 घंटे बाद गुजरात के शहरों और गाँवों में मुसलमानों की बड़े पैमाने पर कई महीनों तक होने वाली जानोमाल की तबाही को तरह–तरह की अभिव्यक्तियों में 'क्रिया की स्वाभाविक प्रतिक्रिया' बता कर उचित ठहराने में जुटा रहा।

संघ संप्रदाय के लिए यह प्रचार निहायत जरूरी था क्योंकि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग सहित कितने ही नागरिक संगठनों ने अपनी रपटों में साफ तौर पर यह दिखाया कि गोधरा कांड के बाद गुजरात सरकार और संघ संप्रदाय के स्थानीय नेताओं ने अल्पसंख्यक मुसलमानों के सफाए के लिए सुनियोजित अभियान चलाया और उसमें समस्त कानूनी ही नहीं, मानवीय और नैतिक मर्यादाओं को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। देश के नागरिक लेखों और पुस्तिकाओं के रूप में छपी इन रपटों को पढ़ सकते हैं। गुजरात में हिंदुओं और मुसलमानों को सांप्रदायिक आधार पर बाँटने की संघ संप्रदाय की पिछले कई वर्षों से चल रहीं तैयारियाँ और गोधरा कांड के बाद व्यापक रूप से हुई सांप्रदायिक हिंसा में सरकार की सहभागिता के मद्देनजर कहा जा सकता है कि उस समय देश के राष्ट्रपति केआर नारायणन नहीं, संघ का कोई अपना सदस्य होता और केंद्र में भाजपा की अपने बहुमत वाली सरकार होती तो गुजरात और देश के बाकी हिस्सों में मुसलमानों का काफी बड़े पैमाने पर सफाया हुआ होता।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा बंगलोर में पारित प्रस्ताव से एक बार फिर सिद्ध हुआ कि संघ संप्रदाय गुजरात की त्रासदी से कोई सबक सीखने को तैयार नहीं है। सभी जानते हैं कि संघ की विचारधारात्मक ऊर्जा का स्रोत भारतीय समाज का बहुलताधर्मी स्वरूप और संवैधानिक मूल्य नहीं हैं। गैर–सामी चरित्र वाले हिंदू धर्म से भी उसका कोई लेना–देना नहीं है। शुरू से ही

उसकी ऊर्जा का स्रोत सांप्रदायिकता है और वह उसी पर अडिग बना हुआ है। उत्तर प्रदेश समेत चार राज्यों में हुए चुनावों में करारी हार के बाद उसके लिए सांप्रदायिक ध्रुवीकरण राजनैतिक जीवन के लिए अपरिहार्य हो गया था। गुजरात और साथ ही अयोध्या में उसकी सरकार का जो आचरण रहा, उससे यह साफ हो गया कि वह आगे पूरे जोर से सांप्रदायिकता फैलाएगा। अडवाणी की राम रथयात्रा के सारथी रहे नरेंद्र मोदी की कौन कहे, केंद्र की वाजपेयी सरकार ने न्यायपालिका को प्रभावित करने की हद तक जाकर यह साफ संदेश दिया कि यह सरकार बाबरी मस्जिद की जगह पर विश्व हिंदू परिषद को मंदिर बनाने की अनुमति देना चाहती है। न्यायालय का प्रतिकूल फैसला आने पर उसने अपने बँधे हाथ ऊपर उठा कर गुहार लगाई कि देश के हिंदू एकजुट होकर अगर केंद्र में भाजपा को पूर्ण बहुमत दें तो फिर अयोध्या में मंदिर–निर्माण का कार्य कोई रोक नहीं पाएगा। साथ ही न मथुरा में, न काशी में और न कहीं और। वाजपेयी सरकार इसका भी सक्रिय संकेत दे चुकी है कि केंद्र में बहुमत आने पर न केवल संविधान और शिक्षा का पाठ्यक्रम बदल दिए जाएँगे, सभी संवैधानिक संस्थाओं को भी 'हिंदू–हित' के अनुरूप बदला जाएगा।

संघ संप्रदाय से ज्यादा अच्छी तरह और कोई नहीं जानता कि करोड़ों की विशाल और विविध आबादी वाले हिंदू समाज में उसके सदस्य कुछ लाख लोग ही हैं। पिछले एक–डेढ़ दशक में उसकी उपलब्धि यह रही है कि वह अपने संगठन व प्रचार कौशल और धन के बल पर यह प्रभाव पैदा करने में काफी हद तक कामयाब रहा है कि कुछ अंग्रेजीदां किस्म के धर्मनिरपेक्षतावादियों और जाति अथवा क्षेत्र की राजनीति करने वाले कुछ शूद्र व दलित नेताओं को छोड़ कर बाकी का हिंदू समाज उसके साथ है। भाजपा के नेतृत्व में बने राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के घटक दलों के नेताओं का धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को लेकर दोगला व्यवहार और कांग्रेस की गाहे–बगाहे सांप्रदायिक कार्ड खेलने की प्रवृत्ति संघ संप्रदाय की सांप्रदायिक मुहिम को ताकत प्रदान करते हैं। साथ ही मीडिया की भूमिका भी जाने–अनजाने संघ को मदद पहुँचाने की होती है। सरकारी होने के चलते दूरदर्शन की मजबूरी तो समझी जा सकती है, लेकिन गुजरात और अयोध्या की घटनाओं को 'कवर' करते वक्त कई निजी चैनलों ने गुजरात और केंद्र सरकार के बचाव और समर्थन में अपने घोड़े खोल दिए। 'स्टार न्यूज' की तटस्थता और पेशागत ईमानदारी की सभी ने तारीफ की और नरेंद्र मोदी सरकार ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया। लेकिन वह भी तोगड़िया, तरुण विजय और नरेंद्र मोहन जैसे सांप्रदायिक द्वेष से लबालब लोगों को खुला मंच उपलब्ध कराने में पीछे नहीं रहा।

'हिंदुस्तान टाइम्स' के संपादक वीर सिंघवी ने अपनी तुरता प्रतिक्रिया में गोधरा के बाद मुसलमानों के खिलाफ हुई हिंसा का सारा दोष धर्मनिरपेक्षतावादियों पर यह कहते हुए डाल दिया कि उन्होंने गोधरा कांड की तुरंत निंदा नहीं की। इसके अलावा 'हिंदुस्तान टाइम्स' को वीएम कामथ, बलबीर पुंज और नरेंद्र मोहन आदि के सांप्रदायिकता के सीधे प्रचार के उद्देश्य से लिखे गए 'पेंफलेट' छापने का श्रेय भी जाता है। 'जनसत्ता' निस्संदेह सांप्रदायिक ताकतों के

खिलाफ जम कर लोहा लेता रहा है, लेकिन वहाँ भी संघ के प्रचारक पत्रकार रामबहादुर राय अपने स्तंभ का सांप्रदायिक शक्तियों के पक्ष में खुल कर इस्तेमाल करते हैं। पिछले दिनों उन्होंने अशोक सिंघल को गाँधी और मार्क्स के साथ नत्थी कर दिया। 'राष्ट्रीय सहारा' की मुख्य लाइन धर्मनिरपेक्षता की है। लेकिन उसमें भी 'डेटलाइन' के लेखक ने सारे फसाद की जड़ मंदिर का विरोध करने वाले धर्मनिरपेक्षतावादियों और निर्णय में देर करने वाले न्यायालय को बताया। 'दैनिक जागरण' की संपादकीय लाइन तो संघ की है ही। दो प्रमुख गुजराती दैनिकों 'गुजरात समाचार' और 'संदेश' ने पत्रकारिता की वस्तुनिष्ठता का निर्वाह न करते हुए खुल कर सांप्रदायिकता की आग को हवा दी, जिसके चलते मुसलमानों को तबाह करने वालों में जोश का संचार हुआ। मीडिया का जिक्र यहाँ इसलिए किया गया है कि धर्मनिरपेक्षता यदि भारतीय संविधान और समाज की आधारभूत शर्त है और मीडिया लोगों तक पहुँच रखने वाला सबसे प्रभावी और व्यापक माध्यम, तो धर्मनिरपेक्षता के सवाल पर उसे अपनी भूमिका पर गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए।

6 दिसंबर 1992 को अयोध्या में जब संघ संप्रदाय के नेतृत्व में बाबरी मस्जिद का ध्वंस किया गया था, तो कारसेवकों ने वहाँ उपस्थित पत्रकारों की खासी बेइज्जती और पिटाई की थी। उनके उपकरण तोड़ कर फेंक दिए गए थे। तब ऐसा लगा था कि देश का प्रेस संस्थान संघ संप्रदाय की सांप्रदायिकता के प्रति गंभीर रुख अपनाएगा। लेकिन वह तब से लेकर आज तक संघ के नेताओं और छद्म संतों के बार–बार बोले जाने वाले झूठों और उन्मादी वक्तव्यों को पूरे उत्साह के साथ जनता के सामने परोसता रहा है। गुजरात में भी पत्रकारों के साथ बदतमीजी किए जाने की खबरें आईं। लेकिन लगता नहीं कि भारतीय प्रेस मुट्ठी भर सांप्रदायिक तत्वों को छोड़ कर, देश में शांति और भाईचारे की बात करने वाले असंख्य लोगों व संस्थाओं को जनता के सामने लाने को तैयार होगा। मुख्यधारा मीडिया पर सवर्णों का संपूर्ण कब्जा है। उसकी भूमिका को देख कर यही लगता है कि सवर्ण बुद्धि के पास सांप्रदायिकता की समुचित काट तो नहीं ही है, वह ज्यादातर उसके फैलाव में मददगार हो रही है।

भारत के मुसलमानों का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उन्हें ज्यादातर राजनैतिक दल महज वोट बैंक के रूप में देखते हैं। भाजपा नेतृत्व ने भी कभी मुखौटा लगा कर और कभी सीधे धमका कर उनका वोट हासिल करने की कोशिश की है। प्रधानमंत्री वाजपेयी ने उत्तर प्रदेश के चुनावों में मुसलमानों को यह कह कर धमकाया कि उनके वोट के बगैर भी भाजपा चुनाव जीत सकती है। धमकी का आशय यही था कि केवल हिंदुओं के बल पर जीत कर आने वाली भाजपा के राज में मुसलमानों की क्या गत होगी, यह अच्छी तरह से सोच लो। भाजपा के नए सितारे अरुण जेटली पूरी बेशर्मी के साथ एक बार एक टीवी चैनल पर यह कह चुके हैं कि अगर भाजपा शासन में नहीं रहेगी तो मुसलमानों के खिलाफ दंगे होंगे और वह सही होगा। विहिप के एक नेता ने सामाजिक व संवैधानिक मर्यादाओं को धता बताते हुए हरिद्वार में खुलेआम घोषणा की कि मुसलमानों को आने वाले समय में घरों से उजड़ कर राहत शिविरों में

रहना पड़ेगा। दरअसल, इन धमकियों में नया कुछ भी नहीं है। संघ के गुरुजन यह स्थापना के समय से ही कहते रहे हैं। लेकिन जब देश का प्रधानमंत्री यह सब कहता है, तो समझ लेना चाहिए कि धर्मनिरपेक्षता के मूल्य पर गंभीर संकट आ चुका है।

अपने को धर्मनिरपेक्ष कहने वाले राजग के सहयोगी दलों के नेताओं का व्यवहार भी पहले से संकटग्रस्त धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को और संकट में डालने वाला प्रमाणित हुआ है। वे संघ संप्रदाय के प्रत्येक अल्पसंख्यक विरोधी सांप्रदायिक वक्तव्य या कारनामे पर अपनी प्रतिक्रिया धर्मनिरपेक्षता के मूल्य में आस्था के चलते नहीं, मुस्लिम वोटों के गणित के मद्देनजर करते हैं। पिछले चार सालों से भाजपा बखूबी अपना सांप्रदायिक एजेंडा चला रही है और ये धर्मनिरपेक्ष दल बराबर उसके सहयोगी बने हुए हैं। बीच–बीच में उनकी ओर से सांप्रदायिकता के विरोध में दिखावटी स्वर उभरते हैं। जाहिर है, वैसे स्वर मुसलमानों को खुश करने के लिए और भाजपा से सत्ता की सौदेबाजी के लिए होते हैं। राजग में शामिल समाजवादी पृष्ठभूमि के नेताओं ने तो पूरी तरह अपने को सांप्रदायिकता के रंग में सराबोर कर लिया है।

तेलगु देशम पार्टी सुप्रीमो चंद्रबाबू नायडू और तृणमूल कांग्रेस सुप्रीमो ममता बनर्जी भी गाहे–बगाहे धर्मनिरपेक्षता की वकालत मुस्लिम वोटों के मद्देनजर चुनावी युक्ति के तौर पर करते हैं। गुजरात में मुसलमानों के सरकार और संघ संप्रदाय द्वारा नियोजित नरसंहार के बाद मुख्यमंत्री मोदी के इस्तीफे की माँग पर अड़ने वाले नायडू ने कुछ ही दिन बाद बयान दिया कि भाजपा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से स्वतंत्र राजनैतिक पार्टी है, जबकि खुद भाजपा नेता ऐसा नहीं मानते। द्रमुक नेता करुणानिधि और अन्नाद्रमुक नेता जयललिता में भाजपा के साथ सहयोग करने की होड़ लगी रहती है। दलित नेता मायावती और उनके राजनैतिक गुरु कांशीराम ने उत्तर प्रदेश में तीसरी बार भाजपा के साथ मिल कर सरकार बनाई। गुजरात की सांप्रदायिक हिंसा को लेकर जब पूरा विपक्ष प्रधानमंत्री वाजपेयी से मिला था और उस बैठक में सभी विपक्षी नेताओं ने हिंसा में संलिप्तता के लिए नरेंद्र मोदी सरकार की निंदा और तुरंत बर्खास्तगी की माँग की थी तो उस समय मायावती सरकार के पक्ष में चुप रहीं। राष्ट्रपति से मिलने गए विपक्षी सांसदों के प्रतिनिधि मंडल के साथ वे नहीं गईं और न ही बसपा का कोई सांसद भेजा।

मुख्यमंत्री बनने पर मायावती ने अपने एक भाषण में गुजरात में मुसलमानों के नरसंहार के लिए मोदी और संघ संप्रदाय को नहीं, बल्कि उनके उनके पक्ष को मजबूत करते हुए सीधे गोधरा कांड करने वालों और परोक्ष रूप से धर्मनिरपेक्षतावादियों को दोषी ठहराया। गुजरात में चुनाव के अवसर पर वे इस हद तक गईं कि नरेंद्र मोदी और भाजपा के पक्ष में खुद प्रचार करने पहुँची। अंबेडकर की दुहाई देकर राजनैतिक सत्ता हथियाने का तर्क देकर वे उसी मनुवादी विचारधारा को बचाने में लगी रहीं, संघ संप्रदाय जिसका प्रतिष्ठापक और वाहक है और जिसके चलते पिछले हजारों वर्षों से देश के दलित प्रतिमानवीय दशा में जी रहे हैं। रामविलास पासवान ने पूरे दो महीने तक गुजरात में हो रही हिंसा पर अपनी जबान नहीं खोली। राजग में शामिल होते वक्त उन्होंने घोषणा की थी कि अब देश में सांप्रदायिकता कोई समस्या नहीं है, असली समस्या

भ्रष्टाचार की है। (भ्रष्टाचार भी उन्हें केवल लालू प्रसाद यादव का ही नजर आता था। अपना या राजग सरकार का नहीं।) लेकिन जैसे ही उनकी विरोधी दलित नेता मायावती को भाजपा ने गले लगाया, उन्हें सांप्रदायिकता गंभीर समस्या नजर आने लगी और वे अकेले दम देश से सांप्रदायिकता के समूल नाश का बिगुल बजाने लगे। मुलायम सिंह यादव की छवि एक मजबूत धर्मनिरपेक्ष नेता के रूप में बनी हुई थी। लेकिन उन्होंने भी साक्षी महाराज जैसे सांप्रदायिक तत्वों को अपनी पार्टी में लेकर और मस्जिद–ध्वंस को अंजाम देने वाले पूर्व भाजपा नेता कल्याण सिंह के साथ सहयोग करके अपनी धर्मनिरपेक्ष छवि को कमजोर किया। मुख्यधारा राजनीति में धर्मनिरपेक्षता के सवाल पर लालू प्रसाद यादव की छवि अलबत्ता ज्यादा प्रगाढ़ होकर सामने आई है। देखना यही है कि सांप्रदायिकता की इस बाढ़ में कौन कितने दिन अपनी टेक पर टिकता है।

यह सब जिक्र यहाँ इसलिए किया गया कि इस कदर सांप्रदायिक हो रहे राजनैतिक परिदृश्य में यह आशा करना व्यर्थ है कि अल्पसंख्यक समुदायों, विशेषकर मुस्लिम समुदाय में सांप्रदायिकता का उभार नहीं होगा और उस उभार का इस्तेमाल विश्व स्तर पर सक्रिय मुस्लिम कट्टरतावादी–आतंकवादी शक्तियाँ नहीं करेंगी। 1993 के मुंबई दंगों में हम इन शक्तियों का आघात झेल चुके हैं और कश्मीर में लगातार झेल रहे हैं। गोधरा की प्रतिक्रिया में अगर बाकी गुजरात हुआ है, तो बाकी गुजरात की प्रतिक्रिया में मुस्लिम कट्टरतावादी शक्तियों की ओर से कुछ नहीं होगा, यह सोचना नादानी होगी। खुफिया एजेंसियों ने खबर दी कि पाकिस्तान स्थित आतंकवादी गुटों ने प्रमुख 'हिंदुत्वादी' नेताओं के खात्मे की योजना बनाई है ताकि सांप्रदायिकता भड़का कर देश को अस्थिर किया जा सके। चुनावों में लगातार हार का सामना कर रही भाजपा को पाकिस्तानी आतंकवादियों की इस तरह की कार्रवाई की धमकियाँ रास आएँगी। भाजपा को सत्ता चाहिए, भले ही वह देश और समाज के विघटन की कीमत पर हो।

आज सांप्रदायिक ही नहीं, 'मॉडरेट' हिंदू भी यह सुनने को तैयार नहीं हैं कि गोधरा कांड भी संघ की सांप्रदायिक मुहिम की प्रतिक्रिया हो सकता है। लेकिन वह था, भले ही उसकी जघन्यता उतनी ही निंदनीय है, जितनी उसके बाद हुई हिंसा की। 'मॉडरेट' हिंदुओं को एक पल ठहर कर यह अवश्य सोचना चाहिए कि पिछले पंद्रह सालों से संघ संप्रदाय के नेता खुलेआम गाली–गलोज की भाषा में भाषणों, कैसटों, पेंफ्लेटों, पुस्तिकाओं और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में परिचर्चाओं के जरिए अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों का मानमर्दन करने में जुटे हुए हैं। संघ की इस लंबी सांप्रदायिक मुहिम ने देश के सामाजिक सौहार्द का माहौल गहरे तक विषाक्त कर दिया है। प्रधानमंत्री वाजपेयी और गृहमंत्री अडवाणी ने अपने सुनियोजित भड़काऊ बयानों से माहौल को बिगाड़ने में भूमिका अदा की है। संघ संप्रदाय की मुस्लिम ताड़ना की कहानी हेडगेवार से लेकर सुदर्शन तक अनंत है। उनके मुताबिक वे पैदाइशी कामुक, आक्रामक और हिंसक होते हैं; हिंदुओं को अपने ही देश में अल्पसंख्यक बनाने के लिए दिन–रात अपनी चार–चार बीवियों के साथ बच्चे पैदा करने में लगे रहते हैं; वे परिवार नियोजन को नहीं मानते

और न ही अपनाते हैं; वे हिंदू स्त्रियों से बलात्कार करके हिंदू गर्भाशयों से मुसलमान संतान पैदा करने की फिराक में रहते हैं; भारत में मुस्लिम–राष्ट्र की स्थापना के लिए उन्हें अरब देशों से धन मिलता है; सरकार उनका तुष्टिकरण करती है; वे रहते भारत में हैं और गुण पाकिस्तान के गाते हैं; उनका धर्म, संस्कृति और आचरण हिंदुओं से बिल्कुल उल्टा है; पाकिस्तान ले लेने के बाद उनका भारत में रहना सिद्धांतत: गलत है आदि–आदि। तथ्यों की कसौटी पर संघ संप्रदाय द्वारा मुसलमानों पर लगाए जाने वाले इन लाँछनों में कोई सच्चाई नहीं है। लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि 'मॉडरेट' हिंदू बहुतायत में संघ द्वारा फैलाए गए इन झूठों को सच मान कर चलते हैं। इसीलिए उन्हें गोधरा की 'प्रतिक्रिया' में हुई मुसलमानों की हत्याओं पर कोई खास ऐतराज या परेशानी नहीं है। यह गंभीर चिंता का विषय है कि देश के 'मॉडरेट' हिंदू धर्मनिरपेक्षता की मुख्यधारा से कट कर सांप्रदायिक संकीर्णता की ओर उन्मुख हो रहे हैं। अगर उनका यह रुझान ऐसे ही बना रहता है तो वह नागरिक समाज खतरे में पड़ जाएगा जिसकी गारंटी देश के संविधान में दी गई है। संविधान की बात को कुछ देर के लिए छोड़ भी दें, सामान्य मानवीय व्यवहार की कसौटी पर भी इस तरह के समाज को सभ्य नहीं कहा जा सकता।

गोधरा के नरसंहार के बारे में यह कहना ही होगा कि वह निरपेक्ष कार्रवाई न होकर संघ की सांप्रदायिक मुहिम की प्रतिक्रिया था। गोधरा की घटना के बारे में 8 मार्च के अंग्रेजी दैनिक 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में छपी अमरीकी अखबार 'वाशिंगटन पोस्ट' की खबर पर ध्यान देने की जरूरत है। खासकर उन 'मॉडरेट' हिंदुओं को जो गोधरा की घटना को मुसलमानों की हिंदुओं के खिलाफ अकारण आतंकवादी कार्रवाई मानते हैं। 'वाशिंगटन पोस्ट' लिखता है कि 58 लोगों को जिंदा जला दिए जाने की गुजरात ट्रेन–ट्रैजडी मुसलमान नौजवानों के पहले से घात लगा कर आक्रमण करने के कारण नहीं हुई। इस ट्रैजडी का कारण हिंदू कार्यकर्ताओं द्वारा झगड़ा उकसाना था जो काबू के बाहर हो गया। 'पोस्ट' लिखता है: ''दो दिनों तक साबरमती एक्सप्रेस उत्तर भारत के आर–पार रुकती–चलती गंतव्य की ओर जाती रही। एस 5 और एस 6 बोगियों में बैठे कुछ हिंदू कार्यकर्ता उपद्रवियों (हुलिगंस) जैसी हरकतें कर रहे थे। उन्होंने मुसलमान महिलाओं के सिर के आँचल खींच कर उतार दिए। उन्होंने चार सदस्यों के एक परिवार को 'श्रीराम–श्रीराम' भजने से इनकार करने पर मध्यरात्री को बोगी से उतार दिया। कार्यकर्ताओं ने हर स्टेशन पर चाय और नाश्ते के पैसे नहीं दिए।'' 'पोस्ट' ने अपने 6 मार्च, 2002 के संस्करण में लिखा है कि 27 फरवरी को जब ट्रेन गोधरा रुकी तो वहाँ उपद्रवियों की पिछले स्टेशन से की जा रही हरकतों की जानकारी पहुँच गई थी। ट्रेन यात्रियों, प्रत्यक्षदर्शियों, पुलिस और रेलवे अधिकारियों से की गई मुलाकातों से यह लगता है कि ट्रेन में जो आग लगाई गई, वह मुसलमानों द्वारा पहले से घात लगाकर की जाने वाली आगजनी नहीं थी। 'पोस्ट' ने गोधरा के एक पुलिस अधिकारी का हवाला देते हुए लिखा है कि उसने कहा, ''दोनों पक्षों का ही दोष था। उकसाया गया था और उसकी प्रतिक्रिया ज्यादा हुई, लेकिन किसी ने भी यह सोचा तक नहीं था कि यह सब इतनी बड़ी ट्रैजडी का रूप ले लेगा।'' 'पोस्ट' ने आगे लिखा है कि ''गोधरा के

डीएसपी बीके नानावटी ने यह कहा बताते हैं कि जाँच–पड़ताल से गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी के इस दावे का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ट्रेन पर हमला 'आतंकवादी' आक्रमण था; वह पूर्वनियोजित नहीं था। यह तो अचानक उकसावे के कारण पैदा हुई घटना थी।'' 'पोस्ट' आगे लिखता है, ''जैसे ही ट्रेन गोधरा पर रुकी, उपद्रव होने के सारे कारण बन चुके थे। ट्रेन कार्यकर्ताओं की हरकतों के कारण पाँच घंटा लेट हो गई थी, क्योंकि कार्यकर्ताओं की हरकतों की वजह से ट्रेन को कई बार रास्ते में रुकने को बाध्य होना पड़ा। गोधरा स्टेशन के 'वेंडर' यह तय कर चुके थे कि वे अपने को उपद्रवियों का शिकार नहीं होने देंगे। उधर विश्व हिंदू परिषद के सदस्य भी 'कार्रवाई के लिए प्रस्तुत' थे। ट्रेन के डिब्बों के फाटकों के नजदीक उन्होंने रेल लाइनों के बगल से पत्थर जमा कर उनका ढेर लगा रखा था। जब हिंदुओं ने चाय और नाश्ते के पैसे चुकाने से इनकार किया तो कई मुसलमान नौजवान ट्रेन के भीतर कूद पड़े और जब ट्रेन चल पड़ी तो उन्होंने जंजीर खींच दी। साबरमती एक्सप्रेस स्टेशन से आठ मील दूर एक मुसलमान मुहल्ले में सीत्कार करती हुई रुकी। झगड़ा शुरू हुआ और मुहल्ले के सैंकड़ों लोग इक्ट्ठा हो गए।'' 'पोस्ट' के अनुसार पुलिस और रेल अधिकारियों का कहना था कि वे यह नहीं जानते कि किसने पहले पत्थर फेंकने शुरू किए। लेकिन अधिकारियों का खयाल है कि दस मिनट बाद एक या उससे अधिक मुसलमानों ने एक गद्दे पर ज्वलनशील पदार्थ डाल कर उसे एस 5 और एस 6 बोगियों के बीच प्रज्वलित कर दिया। कुछ मिनटों बाद एस 5 बोगी की दूसरी तरफ एक अन्य स्थान पर आग दिखाई पड़ी। कुछ ही क्षणों में बोगियाँ आग की लपटों में घिर गईं। पुलिस अधिकारियों ने यह कहा बताते हैं कि उन्हें इस बात का ठीक पता नहीं है कि दूसरी आग कैसे लगी। नानावटी ने कहा कि यह संभव है कि मुसलमानों ने दूसरी आग लगाई हो या यह भी संभव है कि हिंदुओं ने आग का जवाब आग से देने की नीयत से बिना सोचे–समझे कि उनका अपना डिब्बा मिट्टी के तेल और खाना पकाने की गैस से भरा है, दूसरी आग लगाई हो; ''यह दुर्घटना भी हो सकती है।''

गुजरात में गोधरा और उसके बाद जो नृशंसता हुई उसके लिए धर्मनिरपेक्षतावादियों ने ठीक ही संघ संप्रदाय और उसके नेतृत्व वाली राज्य व केंद्र सरकारों की भर्त्सना की है। लेकिन भर्त्सना करने वालों को थोड़ा ठहर कर अपनी भूमिका के बारे में भी सोचना चाहिए। उस रूप में नहीं, जैसा कि 'मॉडरेट' हिंदुओं के पक्ष से वीर सिंघवी आदि ने लिखा है कि 'धर्मनिरपेक्ष प्रतिष्ठान' ने गोधरा की जघन्य घटना की तुरंत निंदा नहीं की। भूमिका का वह पहलू भी हो सकता है, लेकिन उसका कोई तात्कालिक या दूरगामी नतीजा नहीं निकलना था। उससे केवल 'मॉडरेट' हिंदुओं की वह भावना ही सहलाई जाती जिसके तहत वे मानते हैं कि धर्मनिरपेक्षतावादी केवल अल्पसंख्यकों पर होने वाली ज्यादतियों पर ही आंदोलित होते हैं, बहुसंख्यकों के खिलाफ अल्पसंख्यकों के कारनामों की ओर से वे आँख मूँद लेते हैं। इस भावना का आधार फिर एक भावना ही है जिसके तहत आदमी का अपने समूह से सहज लगाव होता है। इस रूप में 'मॉडरेट' हिंदुओं की भावना पर ऐतराज नहीं उठाया जा सकता। लेकिन

उनकी यह भावना सांप्रदायिकता की राजनीति करने वाले लोगों की उस भावना से जुड़ती है जिसके तहत यह प्रचारित किया जाता है कि इस देश में अल्पसंख्यकों का तुष्टिकरण किया जाता है। भावना के आवेग में 'मॉडरेट' हिंदू जाने–अनजाने यह भूल जाते हैं कि अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण या संघ द्वारा प्रचारित अन्य लाँछनों की तथ्यात्मक प्रमाणिकता नहीं है। धर्मनिरपेक्षता का दावा करने वाले नेताओं और बुद्धिजीवियों की सोच और आचरण पर कई तरह के प्रश्नचिन्ह हैं। देश में धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक व्यवस्था की मजबूती के उद्देश्य से उन्हें कटघरे में खड़ा किया जाना चाहिए। लेकिन वैसा प्रयास सांप्रदायिक ताकतों के औचित्य प्रतिपादन में घटित नहीं होना चाहिए। कौन नहीं जानता कि विभाजन के बाद देश में अभी तक जितने भी सांप्रदायिक दंगे हुए हैं, उनमें राज्य ने हमेशा बहुसंख्यकों के पक्ष में और अल्पसंख्यकों के खिलाफ भूमिका निभाई है। भाजपा के शासन–काल में राज्य का यह अल्पसंख्यक–विरोधी चरित्र और परवान चढ़ा है। लिहाजा, धर्मनिरपेक्षता के दावेदारों की लानत–मलामत करते वक्त 'मॉडरेट' हिंदुओं को राज्य की इस खतरनाक होती भूमिका पर भी गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।

गुजरात में सेना को देर से बुलाने और तैनात करने के लिए केंद्र और राज्य सरकार की तीखी आलोचना हुई। गुजरात को गड़बड़ी वाला राज्य घोषित करके सेना के हवाले करने की माँग भी जोर–शोर से उठाई गई। सांप्रदायिक हिंसाग्रस्त क्षेत्र में सेना बुलाने की माँग के पीछे हिंसा पर काबू पाने की उसकी क्षमता के अलावा यह विश्वास भी होता है कि सेना पुलिस की तरह बहुसंख्यक–अल्पसंख्यक का भेद नहीं करेगी – नहीं करती है। पिछले एक–डेढ़ दशक से देश में सांप्रदायिकता के जहर के तेजी से फैलाव के बावजूद अभी यह विश्वास बरकरार है कि अगर कभी सांप्रदायिक हिंसा बड़े पैमाने पर फूट निकली तो देश की सेना उससे निपट लेगी। लेकिन फर्ज कीजिए सेना में भी सांप्रदायिक रुझान पैदा हो जाए तो फिर क्या होगा। राज्य की सत्त लंबे समय तक सांप्रदायिक शक्तियों के हाथ में रहने से ऐसा हो सकता है। मौजूदा सरकार ने कारगिल संघर्ष के समय जिस तरह से शहीद हुए सैनिकों के शवों का जुलूस निकाला और उग्र हिंदुत्ववादी संगठनों के नेताओं ने अस्पतालों में जाकर घायल सैनिकों को धार्मिक किताबें बाँटी, उसे देखते हुए भविष्य में सेना के सांप्रदायीकरण की आशंका को निराधार नहीं कहा जा सकता। पूर्व नौसेना प्रमुख एल रामदास ने प्रधानमंत्री वाजपेयी को एक पत्र लिखा है। उस पत्र की पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं : ''हमारी सेनाएँ हमेशा ही हमारे धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र का सबसे मजबूत स्तंभ रही हैं। हमारे पड़ौसी देश में मौजूद विपरीत परंपराओं के बावजूद हमारी सेनाओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही हमेशा राजनीति से दूरी और लोकसत्ता का सम्मान बनाए रखा है। वे भारत की विविधता की एक सूक्ष्म दुनिया का प्रतिनिधित्व करती हैं, उसी विविधता का जो हमेशा से भारत की शक्ति रही है। हम देख रहे हैं कि पिछले कुछ सालों से धीरे–धीरे हमारी अफसरशाही और पुलिस का सांप्रदायीकरण और राजनीतिकरण होता जा रहा है। अगर यही प्रक्रिया देश के सैन्य बल के संदर्भ में भी शुरू हो

जाती है तो यह वाकई भयावह होगा। तब तो ऐसी खतरनाक और नियंत्रण रहित स्थिति पैदा हो जाएगी, जहाँ हम अपने सैनिकों को एक–दूसरे के खिलाफ खड़े पाएँगे। ऐसे में जो खतरे पैदा होंगे उनकी कल्पना आसानी से की जा सकती है।''

यह भी ध्यान दिया जा सकता है कि संघ संप्रदाय के नेतृत्व का चिर और आदर्श शत्रु पाकिस्तान है। पाकिस्तान की सेना वहाँ की मुख्यधारा राजनीति की संगति में सांप्रदायिकता के रंग में रंगी हुई है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि संघ संप्रदाय के हिंदू–राष्ट्र की सेना की कल्पना भी पाकिस्तानी सेना जैसी ही है। 55 साल बाद भी पाकिस्तान एक कृत्रिम राष्ट्र ही बना हुआ है। सहजता का विकास वह नहीं कर पाया है। सांप्रदायिकता पर पलने वाली तानाशाही उसके अस्तित्व का आधार हो सकती है। लेकिन भारत पाकिस्तान नहीं है। वह एक विशाल और बहुलतावादी समाज को धारण करने वाला राष्ट्र है। धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र उसके बने रहने और फलने–फूलने की अनिवार्य शर्त है। भारतीय राष्ट्र के इस स्वरूप को सांप्रदायिक शक्तियाँ जिस तरह से खतरे में डाल रही हैं, उसके मद्देनजर बहुसंख्यक 'मॉडरेट' नागरिकों को भावनात्मक आवेग से नहीं, विवेक से काम लेना होगा। अल्पसंख्यक समुदायों के नागरिकों की भी वही जिम्मेदारी बनती है। अन्यथा वे राष्ट्र की मुख्यधारा से अलगावग्रस्त ही रहेंगे।

अब सांप्रदायिकता की वाजिब भर्त्सना करने वाले धर्मनिरपेक्षतावादियों की चर्चा करें, जिनके बारे में ऊपर कहा गया है कि उन्हें भी अपनी भूमिका के बारे में सोचना चाहिए। ज्यादातर धर्मनिरपेक्षतावादी नेता और बुद्धिजीवी जहाँ अपने धर्मनिरपेक्ष 'क्रेडेंशियल्स' को लेकर किसी भी प्रकार के संदेह से परे जीते हैं, वहीं दूसरों की प्रतिबद्धता पर संदेह उठाना और लगातार हमला बोलना उनका मुख्य शगल बना हुआ है। इनमें अंग्रेजी ज्ञान में पगे धर्मनिरपेक्षतावादी अभिजात्य के घमंड से भरे होते हैं। सामान्य जनता की भारतीय भाषाओं में लिखने वालों की बात तो छोड़िये, जिन्हें यूरोप–अमरीकी काट का विमर्श नहीं आता, ऐसे अंग्रेजी में लिखने–पढ़ने वालों को भी वे हिकारत की नजर से देखते हैं। धर्मनिरपेक्षतावादियों का यह एक अलग ही पंथ बन गया है, जिसमें मार्क्सवादियों से लेकर आधुनिकता–उत्तराधुनिकतावादी बौद्धिक धाराओं के बुद्धिजीवी शामिल हैं। ऐसे लोग यह तो खैर मानते ही नहीं कि सांप्रदायिकता के फैलाव में उनकी कोई भूमिका हो सकती है।

लोहिया ने 31 अगस्त 1967 को राँची में दिए अपने आखिरी भाषण 'क्रूर हिंसा बनाम अहिंसा' में कहा है : ''अब आप लोगों को सोचना चाहिए कि क्यो बीच–बीच में कभी राँची, कभी जमशेदपुर, कभी कलकत्ता, कभी राउरकेला, कभी जम्मू–श्रीनगर में हम लोग या हम लोगों में से कुछ लोग मतवाले हो जाते हैं और मतवाले होकर के ऐसे काम करते हैं, जो खुद बाद में अगर सोचते होंगे, तो पछताते होंगे! हमारे जैसे लोग जिनका धंधा है कि अपने देश को मजबूत बनाएँ, कमजोरी के जो कारण, लोगों के दिल और दिमाग में हैं उनको दूर करें, अपना धंधा ठीक से नहीं कर पा रहे हैं, तभी तो यह हो जाता है न। तो इसमें मेरा भी हाथ हुआ न। तो

उसी तरह से आप लोगों का हाथ भी है, चाहे आपने कुछ नहीं किया होगा।'' उसी दौरान हिंदी के प्रसिद्ध कवि मुक्तिबोध ने 'अंधेरे में' कविता में जोर देकर यह कहा कि मेरे यानी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के कारण ही शहर में वह दुर्घटना घट गई और कर्फ्यू लग गया। धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों और नेताओं समेत पूरा मध्यवर्ग आज विशाल वंचित आबादी के लिए राष्ट्र–निर्माण में भूमिका तो छोड़िये, जीवन–निर्वाह के अवसर भी नहीं छोड़ना चाहता। बाहर छूटी इस आबादी को सांप्रदायिक ताकतें आसानी से सांप्रदायिकता की भट्ठी का खाद्य बनाती हैं। कहने की जरूरत नहीं कि देश में धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र की प्रतिष्ठा के लिए समतामूलक आर्थिक–सामाजिक व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं है।

धर्मनिरपेक्षतावादियों की भूमिका का एक और पहलू गौरतलब है। इस समूह के ज्यादातर लोगों की रुचि सांप्रदायिकता को समाप्त करने में उतनी न होकर, उसकी वाहक शक्तियों से 'लड़ने' में ज्यादा होती है। इस तरह की बुद्धि के राजनैतिक और विचारधारात्मक कारण खोजना मुश्किल नहीं है। प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका हंस के संपादक राजेंद्र यादव ने हिंदी दैनिक 'राष्ट्रीय सहारा' में संघ संप्रदाय की जमात को 'पागल कुत्ते' कहा है : ''हमारे पास वह दृष्टि और क्षमता नहीं है, जिससे संघ गिरोह के इन पागल कुत्तों का इलाज किया जाता है।'' सांप्रदायिक तत्वों को 'प्रतिकार' की यह शैली माफिक आती है। गुजरात के संदर्भ में गाँधी का काफी नाम लिया गया। उनकी समाधी पर धरने और उपवास भी किए गए। लेकिन जरूरत उनकी उस समझदारी को अपनाने की है, जिसमें वे सहिष्णुतापूर्वक बुराई से लड़ने की बात करते हैं। हालाँकि खुद कुछ गाँधीवादियों का बुरा हाल है। धर्मपाल और रामेश्वर मिश्र 'पंकज' जैसे गंभीर गाधीवादी विचारक तो संघ में बस ही गए हैं। गाँधीवादी प्रतिष्ठान में काम करने वाले राजीव वोरा जैसे बुद्धिजीवी बाहर से संघ का समर्थन करते पाए जाते हैं। इन महानुभावों से केवल यही निवेदन किया जा सकता है कि जीवन और कर्म (राजनीति समेत) को सत्य का प्रयोग मानने वाले गाँधी के विचारों का झूठ और फरेब की बुनियाद पर खड़े संघ संप्रदाय से कोई जुड़ाव नहीं हो सकता। साथ ही गाँधी की मानवमात्र ही नहीं, जीवमात्र के प्रति करुणा का संघ की क्रूरता से कोई मेल नहीं हो सकता।

इस संदर्भ में कुछ अन्य लेखकों की भूमिका पर भी विचार किया जा सकता है। वीएस नॉयपाल, वीएम कामथ, निर्मल वर्मा, विद्यानिवास मिश्र और लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जैसे लेखक और बुद्धिजीवी अक्सर संघ संप्रदाय की पीठ थपथपाते हैं। धर्मनिरपेक्षता को हिकारत से 'गंदा नाला' कहने वाले निर्मल वर्मा गुजरात की घटनाओं को ऐतिहासिक श्रृंखला की तार्किक परिणति मानते हुए लेखकों से उसे उसी परिप्रेक्ष्य में देखने का आह्वान करते हैं। नॉयपाल का भी कहना वही है। यह 'ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' और कुछ न होकर वही है जिसके तहत संघ का शुरू से ही मानना है कि मध्यकाल में मुसलमानों ने हिंदुओं पर अत्याचार किए, जिसका सबक उन्हें आज सिखाना ही होगा। ये दक्षिणपंथी बुद्धिजीवी कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों की धर्मनिरपेक्षता को कोसने में इस कदर अंधे हो जाते हैं कि उन्हें संघ संप्रदाय की मानवता विरोधी, भारतीयता

विरोधी, संविधान विरोधी, राष्ट्र विरोधी विचारधारा दिखाई नहीं देती।

सांप्रदायिक या जातीय हिंसा की घटनाओं को विचारधारात्मक नजरिए के अलावा मानवीय नजरिए से भी देखा जा सकता है, बल्कि देखा जाना चाहिए। सांप्रदायिक या जातीय हिंसा जब भी फूटती है, सैंकड़ों–हजारों निर्दोषों की जान लेकर शांत होती है। विभाजन के वक्त हुए सांप्रदायिक दंगों में दस लाख लोगों की जान जाने की बात कही जाती है। जान चले जाना एक बात है, लेकिन इस तरह की हिंसा में जान जाने से पहले की दहशत का वह अनुभव कि अब बचेंगे नहीं – छुरा घोंप कर मारे जाएँगे या गोली से या फिर जला कर – इंसान के लिए कितना त्रासदायक होता होगा, यह सोच कर ही दम घुटने लगता है। सामूहिक नरसंहार की भयावहता के बारे में सोच कर यह गनीमत लगती है कि इंसान अकेले में मारा जाए। इंसान की यह फितरत है कि मौत के साक्षात उपस्थित होने पर भी वह मात्र आत्मरक्षा की भावना से परिचालित नहीं होता। अगर आँखों के सामने पूरे परिवार की मौत का मंजर हो, तो इंसान की जीवन को तिल–तिल कर बचाए रखने की जिजीविषा और अपनों के प्रति अनुराग की भावना पर क्या बीतती होगी!

गोधरा स्टेशन पर रेल के डिब्बे में जलाए गए लोगों के परस्पर परिचित और परिजन रहे होंगे। गोधरा के बाद दूसरे शहरों और गाँवों में तो कितने ही परिवारों को एक साथ जिंदा जलाया गया। पूर्व सांसद अहसान जाफरी के परिवार के कई सदस्यों को एक साथ आग के हवाले किया गया। गोधरा और गोधरा के बाद, दोनों स्थितियों में बड़ों ने छोटों को बचाने की कामना और प्रयास किया होगा। 5 मार्च के 'हिंदुस्तान टाइम्स' और 'स्टेट्समैन' अखबारों के मुखपृष्ठों पर 4 साल के 90 प्रतिशत जले हुए एक शिशु की तस्वीर छपी है। वह तस्वीर इलैक्ट्रॉनिक मीडिया पर लगातार दिखाए जाने वाले मानव तबाही के चरम बिंदु को हमारे सामने ले आती है। टुकुर–टुकुर ताकती उस बच्चे की निर्दोष आँखें मानो मनुष्यता पर सवाल उठा रहीं हैं कि इस दुनिया में वह कहीं है भी या नहीं! कुछ ही घंटे बाद वे आँखें बंद हो गईं। लेकिन क्रिया–प्रतिक्रिया के तर्कों में मशगूल धर्म और सभ्यता के ठेकेदारों की आँखें शायद ही खुलें। उन्हें तो इस तरह के दृश्य मीडिया की भड़काने वाली कार्रवाई नजर आते हैं। राजनैतिक सत्ता हथियाने और बनाए रखने के लिए लोगों की भावनाएँ भड़काने में संलग्न तत्व यह सोच ही नहीं सकते कि मनुष्यता के विनाश के दृश्य इंसान के हृदय में मानवीय करुणा भी पैदा कर सकते हैं। राजनेताओं के बारे में तो यह धारणा आम हो चली है कि उनमें संवेदना नहीं होती। वे मानवीय त्रासदी की घटनाओं को भी वोट बटोरने का अवसर बना लेते हैं। लेकिन सामाजिक–राजनैतिक परिदृश्य पर धार्मिक प्रेतों की तरह मँडराने वाले विश्व हिंदू परिषद के साधु–संतों के चेहरों पर भी मानवीय करुणा की कोई झलक देखने को नहीं मिली। उल्टे उनके चेहरों पर तसल्ली का भाव था कि दुश्मनों को अच्छा सबक मिला है। यहाँ तक कि कांची के शंकराचार्य भी गुजरात जाने से पहले प्रधानमंत्री के बुलावे पर दिल्ली पहुँचे। बाद में वे अहमदाबाद गए भी तो संघ संप्रदाय की सोहबत में। संघ संप्रदाय ने ही गुजरात में उनकी

अगवानी की। क्या शंकराचार्य को अपने समाज में सक्रिय प्रतिमानवीय और द्दर्म विरोधी लोगों और संगठनों की जानकारी नहीं है?फिर उनका आध्यात्मिक ज्ञान मानवता और समाज के किस काम का है! कहना न होगा कि यह द्दर्म का मर्म कहे जाने वाले प्रेम और करुणा पर घृणा, कुटिलता और क्रूरता की स्पष्ट विजय है। अपने नन्हें–मुन्नों से आदमी का प्यार पशुओं की तरह प्राकृतिक होता है। उन्हें छुरा घोंपा जाते, गोली से उड़ाया जाते या जलाया जाते देखने का अनुभव किस कदर हृदय–विदारक होता होगा! ऐसा अनुभव जिसकी अभिव्यक्ति के लिए शायद ही किसी भाषा में शब्द हों। सांप्रदायिक या जातीय हिंसा का आयोजन करने वालों से यह अपील की जानी चाहिए कि वे कम से कम बच्चों की हत्या करते वक्त न्यूनतम क्रूरता बरतें। अगर उन्हें माता–पिता से अलग ले जाकर मारें तो बड़ी मेहरबानी हो। आखिर बच्चे भगवान के नन्हें फरिश्ते कहे जाते हैं। यहाँ अपनी एक कविता की पंक्तियाँ याद आ रही हैं : खूनी भाइयो/धर्म के नाम पर ही कुछ दया दिखाओ/एक झटके में काम तमाम करो/नन्हे–मुन्नों का/बौछारों के बीच/साध कर कुछ निशाने अचूक/दनाक से उतार दो गोलियाँ/सीधे सीने में/आखिर जान ही कितनी/चिड़िया जितनी!/बच्चे होते नहीं अहसान फरामोश/उस लोक में भी मानेंगे तुम्हारा एहसान/अगले जन्म में भी चाहेंगे/तुम्हीं से मौत!

अक्सर सांप्रदायिक या जातीय हिंसा से आदमी का छुटकारा अपनी तथा परिवार की मौत से ही नहीं हो जाता। उसके सामने घर की उन स्त्रियों को उठाया या बलात्कृत किया जाता है, जिनके शील की रक्षा के लिए सामान्य समय में वह जान लेने–देने पर उतारू हो जाता है। ऐसे में मौत पूरी हो जाने तक आदमी किस विवश छटपटाहट और त्रास में जीता होगा – उसकी बहू–बेटियों का आगे का जीवन कैसा होगा, बलात्कार के बाद वे मार दी जाएँगी या अभिशप्त जीवन जीने के लिए छोड़ दी जाएँगी, छोड़ दी जाएँगी तो किस रूप में, रखैल बना कर या वेश्या बना कर! गुजरात में हुई दिल दहला देने वाली त्रासदी के बाद 15 अप्रैल को संसद का बजट सत्र शुरू हुआ। हालाँकि संसद इस त्रासदी के घटित होने के वक्त भी चल रही थी, लेकिन उस समय उसका वैसा भयावह रूप सामने नहीं आया था। यानी वहाँ बच्चों–बूढ़ों समेत लोगों की जान की तो कोई कीमत थी ही नहीं, औरतों की इज्जत का भी कोई मोल नहीं था। खुलेआम सड़कों पर सामूहिक बलात्कार के बाद औरतों को जिंदा जलाया गया। नाबालिग लड़कियों ने भी मारे जाने से पहले बलात्कार सहे। कहना होगा कि गुजरात की हिंसा का यह सर्वाधिक घृणित पक्ष था – मुक्तिबोध के शब्दों में एक 'नीच ट्रैजडी'। औरतों के साथ वहाँ जो कुछ हुआ उसे जान–सुन कर लगा था कि पूरे देश का मानस शर्मसार और गमगीन होगा। देश के कर्णधार, चाहे वे किसी भी पार्टी या संगठन में हों, उदास होंगे और संसद के भीतर व बाहर एक–दूसरे पर केवल राजनैतिक हमला बोलने के बजाय ऐसे दूरगामी गंभीर प्रयास करेंगे जिनसे आने वाले समय में देश की माँओं, बहनों, बेटियों को वह सब न झेलना पड़े, जो उन्होंने गुजरात में झेला। लेकिन औरतों पर टूटे इस कहर पर पूरे देश में कोई भी नेता व्यथित या उदास नहीं हुआ। राजनैतिक–सामाजिक क्षेत्रों में सक्रिय महिला नेत्रियाँ भी नहीं। नारी उत्पीड़न की इन

जघन्यतम वारदातों का प्रतिष्ठित नारीवादियों ने भी नोटिस नहीं लिया। सामान्य महिला नागरिकों की ओर से भी कोई आवाज सुनाई नहीं दी।

सभी पार्टियों के छोटे–बड़े नेता लकदक पोशाकों में अपनी चमचमाती कारों से लोकतंत्र के मंदिर के दरवाजे पर उतरते और अंदर जाते हुए दिखाई दिए। वे सभी खिलखिलाते और मस्ती–भरे अंदाज में थे। महिला सांसदों का भी वही हाल था। किसी एक सांसद के चेहरे पर भी गुजरात त्रासदी के इस घिनौने पहलू की व्यथा नजर नहीं आई। संसद के भीतर कई दिनों तक गुजरात को लेकर ही हंगामा होता रहा। बार–बार कार्रवाई स्थगित हुई। पक्ष और विपक्ष दोनों ओर से राजनैतिक दावपेंच चलते रहे; जज्बात शायद थे ही नहीं जो अभिव्यक्त होते! किसी के भाव और भाषा से ऐसा संकेत नहीं मिला कि उन्हें कोई पीड़ा पहुँची है। गुजरात, अयोध्या, दिल्ली, गोवा – संघ संप्रदाय के नेताओं ने अपने को केवल गोधरा में जला कर मारे गए रामसेवकों तक ही सीमित रखा। 'कवि–हृदय' प्रधानमंत्री ने तो पीड़ा की अभिव्यक्ति को भी ओछी राजनीति का विषय बना डाला। संघ संप्रदाय के 'साधु–संत' तक विचलित नहीं हुए। गोया हिंदू और मुसलमान ईश्वर के घर से बन कर आते हों और 'हिंदू–राष्ट्र' में मुस्लिम स्त्रियाँ की यही नियति है।

दिल्ली समेत देश के कुछ अन्य शहरों में लेखकों–कलाकारों– पत्रकारों–शिक्षकों आदि ने धरने और उपवास आयोजित किए। लेकिन वृहत्तर नागरिक समाज पूरी त्रासदी पर चुप्पी साध कर बैठा रहा। मुंबई से लेकर मद्रास तक फिल्म वालों के लिए तो मानो गुजरात कहीं था ही नहीं। कोई सामूहिक धरना, मार्च, उपवास तो दूर, व्यक्तिगत तौर पर भी किसी का दिल नहीं पसीजा। बड़े–बड़े पांडालों और टीवी चैनलों पर रामायण, गीता और भागवत आदि पुराणों की 'अमृतवर्षा' करने वाले जगदगुरुओं, महाराजों, बापुओं और अम्माओं ने शायद ध्यान भी न दिया हो कि गुजरात में कुछ हुआ है। बसों, पार्कों, दफ्तरों, सामाजिक आयोजनों – कहीं भी गुजरात की त्रासदी चिंता का विषय नहीं बनी। इस पूरे मामले में ग्रामीण भारत का क्या रुख रहा, इसकी जानकारी न प्रिंट मीडिया को है, न इलैक्ट्रॉनिक मीडिया को और न ही मेरे जैसे लेखकों को। गाँव का होने के नाते यह लेखक कुछ कहे भी तो वह बूँद भर सत्य होगा। वैसे भी दिल्ली की जड़ में बसे गाँवों से ग्रामीण लोकाचार समाप्तप्राय है। फिर भी, इस लेखक की जितनी जानकारी है, उससे यही नतीजा निकलता है कि सवर्ण, विशेषकर खाते–पीते गाँववासियों को गुजरात की त्रासदी ने नहीं छुआ। औरतों को वहाँ पता ही नहीं है कि गुजरात में उनकी बहनों के साथ क्या गुजरा है। कुछ मुसलमान नेताओं और बुद्धिजीवियों ने भी गुजरात में जानोमाल की तबाही के बारे में ही अपने उद्‌गार व्यक्त किए। नृशंसता की कहानी उन्होंने भी कही। लेकिन औरतों के साथ हुआ कुकर्म उनकी चिंता का भी विषय नहीं बना।

यूँ तो जान और माल की भयानक तबाही की खबरों के साथ ही औरतों के साथ सामूहिक बलात्कार करने और उन्हें फिर जिंदा जला देने की खबरें आ रही थीं, लेकिन तब लग रहा था कि वैसे मामले इक्का–दुक्का ही होंगे। दुर्भाग्य से वैसा नहीं था। माथा तो तभी ठनका था, जब

गुजतरात से लौट कर राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष जेएस वर्मा ने कहा था कि अभी वे वहाँ औरतों पर हुए अत्याचारों को बताने की स्थिति में नहीं हैं। साथी शम्सुल इस्लाम 5 अप्रैल को गुजरात से लौटे तो गहरे मानसिक विषाद में डूबे हुए थे। मुख्य कारण था औरतों के साथ 'रामभक्तों' का कुकर्म। सिटीजंस इनिशिएटिव, अमदाबाद की ओर से महिलाओं के एक पेनल ने एक रपट जारी की। इस रपट में बलात्कार की शिकार या प्रत्यक्षदर्शी औरतों की गवाहियों (टेस्टीमोनियल्स) का संकलन किया गया है। इस रपट के कुछ हिस्से – तीन गवाहियाँ – 18 अप्रैल के 'हिंदुस्तान टाइम्स' में 'माई डॉटर वाज लाइक ए फ्लावर' (मेरी बेटी फूल की मानिंद थी) शीर्षक से प्रकाशित हुए। अगर किसी में कुछ भी इंसानियत बाकी है तो ये विवरण स्तंभित और व्याकुल कर देने वाले हैं। भारत में औरतों के साथ इस तरह का कुकर्म शायद विभाजन के दंगों के बाद पहली बार हुआ।

'हिंदुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित तीनों गवाहियों का हिंदी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है। इस आशा के साथ कि गुजरात की उन अभागी औरतों के साथ जो हुआ सो हुआ, आगे आने वाले समय में उसकी पुनरावृत्ति को किसी हद तक रोका जा सके। साथ ही उन हिंदुओं को आइना दिखाने की आशा में, जो अपनी धार्मिक–सांस्कृतिक महानता के दर्प में इस भ्रम का शिकार रहते हैं कि केवल मुसलमान ही कुकर्मी और नृशंस होते हैं।

***** सामूहिक बलात्कार (नाबालिग लड़कियों सहित) को प्रत्यक्ष देखना, नरोदा पटिया, अमदाबाद, फरवरी 28 : ''हमें गंगोत्री सोसायटी से जबरन बाहर निकाला गया। उसके बाद भीड़ ने जलते हुए टायर लेकर हमारा पीछा किया। उसी दौरान उन्होंने बहुत–सी लड़कियों के साथ बलात्कार किया। हमने आठ–दस बलात्कार अपनी आँखों से देखे। हमने उन्हें सोलह साल की मेहरुन्निसा को निर्वसन करते देखा। वे लोग अपने कपड़े उतार रह थे और लड़कियों को इशारा कर रहे थे। उसके बाद उन्होंने वहीं सड़क पर उनके साथ बलात्कार किया। . . . बलात्कार के बाद लड़कियों को जला दिया गया। अब कोई साक्ष्य नहीं बचा है।'' (स्रोत : कुलसुम बीवी, शाह–ए–आलम कैंप, 27 मार्च)

''मैंने गुड्डू चारा को फरजाना के साथ बलात्कार करते हुए देखा। फरजाना की उम्र तेरह साल थी। वह हुसैन नगर की रहने वाली थी। उन्होंने फरजाना के पेट में सरिया घोंप दिया। बाद में उसे जला दिया गया। बारह साल की नूरजहां के साथ भी बलात्कार किया गया। बलात्कारियों में गुड्डू, सुरेश, नरेश चारा और हरिया थे। राज्य परिवहन विभाग में काम करने वाले भवानी सिंह को भी मैंने पाँच आदमियों और एक लड़के की हत्या करते हुए देखा।'' (स्रोत : अजहरुद्दीन, 13 साल, उसने बलात्कार के दृश्य उस समय देखे जब वह गंगोत्री सोसायटी की छत पर छिपा हुआ था। चारा बस्ती जवान नगर के बिलकुल पीछे स्थित है।)

चारा नगर और कुबेर नगर से आई भीड़ ने शाम छह बजे के करीब लोगों को जलाना शुरू कर दिया। भीड़ ने मेरी तेईस साल की बेटी सहित सभी लड़कियों को निवर्सन कर दिया

और उनके साथ बलात्कार किया। मेरी बेटी की शादी तय हो चुकी थी। मेरे परिवार के सात सदस्यों को जला दिया गया। उनमें मेरी चालीस साल की पत्नी, अठारह, चौदह और सात साल के बेटे और दो, चार और बाईस साल की बेटियाँ शामिल थीं। बाद में सिविल अस्पताल में दम तोड़ देने वाली मेरी सबसे बड़ी बेटी ने बताया कि जिन्होंने उसके साथ बलात्कार किया वे निक्कर पहने हुए थे। उन्होंने उसके सिर पर प्रहार किया और फिर जला दिया। अस्सी प्रतिशत जली हालत में उसकी मौत हो गई। (स्रोत : अब्दुल उस्मान, सिटीजंस इनिशिएटिव, अमदाबाद द्वारा रिकॉर्ड किया गया।)

* बलात्कार के बाद बची सुल्तानी का बयान, गाँव एराल, कलोल तालुका, पंचमहल, 28 फरवरी : ''हम करीब चालीस लोग 28 फरवरी की दोपहर बाद हिंसक भीड़ से बचने के लिए एक टैंपो में कलोल की तरफ भागे। मेरे पति फिरोज टैंपो चला रहे थे। कलोल के बिल्कुल बाहर एक मारुति कार ने सड़क पर रास्ता रोका हुआ था। भीड़ इंतजार में लेटी हुई थी। फिरोज को टैंपो मोड़ना पड़ा और वह उलट गया। जैसे ही हम बाहर आए उन्होंने हमें मारना शुरू कर दिया। लोग चारों तरफ भागे। हम कुछ लोग नदी की तरफ भागे। मैं पीछे रह गई क्योंकि मैंने अपने बेटे फैजान को उठाया हुआ था। भीड़ के लोगों ने मुझे पीछे से पकड़ कर जमीन पर पटक दिया। फैजान मेरी गोद से गिर गया और और रोने लगा। उन लोगों ने मेरे कपड़े उतार कर मुझे निवर्सन कर दिया। उन्होंने एक के बाद एक मेरे साथ बलात्कार किया। पूरे समय मैं अपने बच्चे का रोना सुनती रही। तीन बलात्कारियों के बाद में गिनती भूल गई। उसके बाद तेज धार हथियार से उन्होंने मेरा पैर काट डाला और मुझे उसी हालत में छोड़ कर चले गए। (स्रोत : सुल्तानी, कलोल कैंप, पंचमहल, 30 मार्च। इस मामले में डीएसपी को लिखित स्टेटमेंट देने के बावजूद अभी तक एफआईआर नहीं लिखी गई है। सुल्तानी ने देलोल गाँव के जीतू शाह और रामनाथ गाँव के अशोक पटेल के नाम भी लिए हैं।)

* माँ द्वारा अपनी बेटी के बलात्कार का विवरण, गाँव एराल, कलोल तालुका, पंचमहल, 3 मार्च : ''मेरे अवकाश–प्राप्त शिक्षक ससुर ने २८ फरवरी को बाकी मुसलमानों के साथ गाँव छोड़ कर कलोल जाने से इनकार कर दिया। उन्हें विश्वास था कि हमें कोई नुकसान नहीं पहुँचाएगा। मेरे परिवार के 13 सदस्यों ने 28 फरवरी से लोगों के घरों और खेतों में शरण ले रखी थी। जिस झोंपड़ी में हम छिपे थे, 3 मार्च को दोपहर बाद उस पर हमला हुआ। हम अलग–अलग दिशाओं में भागे और खेतों में छिप गए। लेकिन भीड़ ने हम में से कुछ को पकड़ लिया। . . . हमला होने पर मैंने अपने परिवार के लोगों को जान बख्शने के लिए चिल्लाते सुना। मैंने अपने गाँव के दो लोगों गनो बरिया और सुनील को अपनी बेटी शबाना को खींच कर ले जाते देखा। वह उन लोगों से उसे छोड़ देने के लिए चिल्ला रही थी। . . . अपनी इज्जत की भीख माँगती रुकैया, सुहाना, शबाना की आवाजें साफ सुनी जा सकती थीं। मेरा दिमाग भय और उत्तेजना से भर गया था। मैं अपनी बेटी की इज्जत और जान बचाने के लिए कुछ नहीं कर सकी। . . . मेरी बेटी फूल की मानिंद थी। अभी तो उसे जीवन जीना था। उन्होंने उसके साथ

ऐसा क्यों किया? ये कैसे लोग हैं? राक्षसों ने मेरी बेटी के टुकड़े–टुकड़े कर दिए। कुछ समय के बाद भीड़ कह रही थी, 'इनके टुकड़े–टुकड़े कर दो, कोई भी सबूत बचे नहीं।' मैंने देखा कि आग लगा दी गई है। . . .'' (स्रोत : मदीना मुस्तफा इस्माइल शेख, कलोल कैंप, पंचमहल, 30 मार्च)

दुनिया के किसी भी हिस्से में जब बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक या जातीय फसाद होते हैं या फासीवादी–तानाशाही अत्याचार होते हैं तो सभी जगह औरतों के साथ यही सलूक होता है। चाहे कोई भी सभ्यता हो, कोई भी युग। आधुनिक सभ्यता वाले आधुनिक युग में भी औरतों के साथ बार–बार यही हुआ है। अलबत्ता बलात्कार के बाद औरतों को जान से मार देने की परिघटना गुजरात की अपनी है। इसके पीछे बलात्कारियों की सबूत मिटा देने की मंशा तो रही ही है, लिंग–भेद के परे मुसलमानों के प्रति घृणा की पराकाष्ठा भी कारण है। सावरकर–गोलवलकर के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के अनुयायियों ने ये कैसे 'संस्कृति–पुरुष' तैयार किए है?संघ संप्रदाय के नेता जवाब दें कि क्या गोधरा की 'प्रतिक्रिया' का यह रूप भी उन्हें स्वीकार है?वे जवाब दें कि ज्यादातर बलात्कार के बाद मार दी गईं और कुछ बच गईं औरतों के लिए उनके हृदयकोश में क्या है?क्या वे इस कुकर्म का समर्थन करते हैं?अगर हाँ, तो उन्हें इंसान नहीं माना जा सकता। अगर वे समर्थन नहीं करते हैं तो उन्हें कम से कम एक दिन का प्रायश्चित उपवास गाँधी जी की समाधी पर रखना चाहिए। और कम से कम बलात्कारियों को गिरफ्तार कर सजा दिलवाने में कोई कसर नहीं छोड़नी चाहिए। (संघ संप्रदाय के नेताओं–कार्यकर्ताओं से उस वक्त लिखे गए लेख में किया गया सवाल और निवेदन अनसुना रहा। प्रायश्चित तो दूर, महिलाओं के साथ हुए कुकर्म और नृशंसता की किसी ने निंदा तक नहीं की।)

देश की सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता पर बैठे प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी राजग सरकार की ही नहीं, देश में सांप्रदायिकता के प्रसार और पैठ की भी सफलतापूर्वक अगुवाई कर रहे हैं। ग्राहम स्टेंस और उनके बच्चों की जिंदा जलाए जाने से लेकर गोधरा और बाकी गुजरात में जिंदा जला कर मारे गए हजारों निर्दोष नागरिकों तक उनकी अगुवाई का सिलसिला देखा जा सकता है। वाजपेयी की इससे बड़ी सफलता और क्या हो सकती है कि गुजरात के नरसंहार के बाद न केवल उन्होंने मोदी को कोई आँच नहीं आने दी, अडवाणी को देश का उपप्रधानमंत्री बना कर सांप्रदायिकता के प्रसार का आगे का रास्ता भी प्रशस्त कर दिया है। गुजरात में कई महीने तक हिंसा और आगजनी का सिलसिला चलता रहा। हजार से ऊपर लोग मारे गए और हिंसा व आगजनी में उजड़े करीब एक लाख लोगों ने राहत कैंपों में शरण ली। उनमें बहुत से लोग लंबे समय तक राहत कैंपों में ही किसी तरह अपना बसर करने को मजबूर रहे। लोग अपने जीवन को लेकर इस कदर भयभीत थे कि कैंप छोड़ कर अपने घरों को लौटना उन्होंने गवारा नहीं किया। ये अभागे अपने घरों को लौटने के बाद न भी मारे जाते, तो भी इसकी संभावना न के बराबर थी कि उनका जीवन कभी सामान्य हो पाएगा। राज्य में हजारों करोड़ रुपयों का माली नुकसान हुआ।

24 मार्च को गुजरात दौरे से लौट कर राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति जेएन वर्मा ने गहरे क्षोभ और चिंता के साथ देश को बताया कि पूरे मामले में राज्य सरकार ने निष्पक्षता से काम नहीं लिया। ध्यान रहे कि उन्होंने राज्य सरकार द्वारा पहले दी गई रिपोर्ट को यह कहते हुए नकार दिया था कि सरकार ने उसमें पूरे राज्य में हुईं हिंसक वारदातों का कोई जिक्र ही नहीं किया। विदेश मंत्रालय की वेबसाइट पर भी केवल गोधरा कांड की जानकारी उपलब्ध कराई गई, उसके बाद जो नरसंहार हुआ उसका कोई जिक्र वेबसाइट पर नहीं था। जाहिर है, राज्य सरकार आयोग और दुनिया को अंधेरे में रख कर बच निकलना चाहती थी। एक जनहित याचिका में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष की भूमिका पर कानूनी नुक्ता उठाया गया लेकिन आयोग ने देश के सामने गुजरात सरकार का सांप्रदायिक चरित्र सामने रख दिया। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति मोहम्मद शमीम ने गुजरात दौरे से लौट कर प्रधानमंत्री को पत्र लिख कर गुजरात की हिंसा से जुड़े सभी तथ्य उजागर करने के लिए उसकी जाँच सुप्रीम कोर्ट के जज से कराने की माँग दोहराई। इस माँग का सीधा अर्थ था कि आयोग को नरेंद्र मोदी सरकार द्वारा कराई जा रही जाँच पर भरोसा नहीं है। यानी अल्पसंख्यक आयोग ने भी नरेंद्र मोदी और उनकी सरकार को निष्पक्ष नहीं माना। हाउसिंग फाइनेंस फर्म एचडीएफसी के अध्यक्ष दीपक पारेख ने अपनी विस्तृत प्रतिक्रिया में गुजरात की हिंसा के लिए राज्य और केंद्र दोनों सरकारों को जिम्मेदार ठहराया। उन्होंने कहा कि ''गुजरात में हालात काबू से बाहर जाने के लिए केंद्र सरकार बिल्कुल बराबर की जिम्मेदार मानी जानी चाहिए। मुझे लगता है कि भारतीय गृहमंत्री और यहाँ तक कि प्रधानमंत्री को इस सिलसिले के आरोपों को अपने ऊपर लेना चाहिए।'' पुरी के शंकराचार्य स्वामी अधोक सहजानंद देवतीर्थ ने गुजरात की हिंसा के लिए संघ संप्रदाय के साथ प्रधानमंत्री पर भी आरोप लगाया। उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को धार्मिक पाखंड करने वाला आतंकवादी और अलगाववादी संगठन करार देते हुए गुजरात नरसंहार के लिए जिम्मेदार लोगों को दंडित करने की माँग की। विपक्षी राजनैतिक पार्टियों के नेताओं ने तो एक स्वर में हिंसा के लिए नरेंद्र मोदी और उनकी सरकार को दोषी ठहराते हुए बर्खास्त करने की माँग की ही। गुजरात विधानसभा में विपक्ष के नेता और राज्य के पूर्व गृहमंत्री नरेश रावल ने नरेंद्र मोदी को हिंदू कार्ड ही नहीं, हत्या कार्ड खेलने का अपराधी बताया।

कई नागरिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक मंचों से देश के राष्ट्रपति को ज्ञापन दिए गए जिनमें मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी और गृहमंत्री लालकृष्ण अडवाणी को तुरंत बर्खास्त करने की माँग की गई। गुजरात के नरसंहार से आहत खुद राष्ट्रपति ने कहा कि देश के कुछ हिस्सों में हो रही सांप्रदायिक हिंसा के कारण वे इस बार होली का त्यौहार नहीं मनाएँगे। राष्ट्रपति भवन से जारी इस आशय की विज्ञप्ति में सांप्रदायिक शक्तियों के प्रतिमानवीय कृत्यों पर राष्ट्रपति ने अपनी नाराजगी और पीड़ा का मर्यादित और सूक्ष्म ढंग से इजहार कर दिया। पूरे देश, विशेषकर राजधानी दिल्ली में धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य में आस्था रखने वाले नागरिक

अपने–अपने स्तर पर गुजरात में जारी हिंसा पर अपना क्षोभ प्रकट करते रहे। वे भी देश में संविधान के शासन की पुनर्प्रतिष्ठा और अल्पसंख्यक समुदाय के नागरिकों में विश्वास की बहाली के लिए नरेंद्र मोदी और गृहमंत्री लालकृष्ण अडवाणी के इस्तीफे की माँग कर रहे थे। इस सबके बावजूद 'उदार' प्रधानमंत्री ने मोदी को दिल्ली बुला कर उनकी भूमिका पर संतोष जाहिर किया। खबरों में आया कि प्रधानमंत्री ने बीस मिनट अकेले में भी मोदी से बातचीत की, जिसमें उन्होंने मोदी को कुछ फटकार भी लगाई। निश्चित ही यह फटकार प्यार भरी रही होगी कि 'अभी इस कदर खुल कर खेलने का समय नहीं आया है। 'हिंदू–राष्ट्र' के दूरगामी लक्ष्य के मद्देनजर उतावलापन ठीक नहीं है। उन्हें परिस्थितियों के पकने का इंतजार करना चाहिए।' प्रधानमंत्री से मिलने के बाद पूरी तरह से आश्वस्त मोदी ने प्रेस वालों को बताया कि बैठक में उनके इस्तीफे या नेतृत्व–परिवर्तन को लेकर कोई चर्चा ही नहीं हुई।

वाजपेयी की उदारता के कायल लोगों को कहीं न कहीं यह विश्वास था कि वे मोदी को दिल्ली बुला कर सार्वजनिक रूप से कड़ी फटकार लगाएँगे और अपने सामने उनका इस्तीफा दरवा लेंगे। वाजपेयी की उदारता का वास्ता देकर भाजपा में शामिल जो इक्का–दुक्का मुस्लिम नेता या मंत्री हैं, वे तो जरूर इसी आशा में अटके हुए थे। राष्ट्रपति महोदय के मन के किसी कोने में भी यह आशा रही हो सकती है कि शायद देश का प्रधानमंत्री होने के नाते, जिस पर संवैधानिक शासन चलाने की जनता द्वारा सौंपी गई जिम्मेदारी होती है, वाजपेयी गुजरात के मुख्यमंत्री के खिलाफ कुछ कड़ा रुख अपनाएँगे और चाहे देर से ही और दिखावे के लिए ही सही, अपनी संवैधानिक प्रतिबद्धता निभाएँगे। लेकिन ऐसा न होना था, न हुआ। खुद वाजपेयी और बाकी संघ संप्रदाय पहले भी राष्ट्रपति की देश की जनता और संविधान के प्रति वाजिब चिंताओं का मखौल उड़ा चुके हैं। बहरहाल, वाजपेयी ने मोदी को तो फटकार नहीं लगाई, अलबत्ता विपक्ष की नेता सोनिया गाँधी पर वे जरूर बिफर उठे। सोनिया गाँधी के यह कहने पर कि वे संघ संप्रदाय के दबाव में काम करते हैं और उन्हें नैतिक साहस का परिचय देना चाहिए, वाजपेयी ने विपक्षी नेता को लताड़ते हुए कहा कि वे उनकी उम्र से ज्यादा सालों से राजनीति में हैं और कभी किसी के दबाव में काम नहीं करते। सोनिया गाँधी का यह कहने का एक ढंग ही था, वरना उनके भाषण लिखने वाले यह बखूबी जानते होंगे कि वाजपेयी संघ के दबाव में नहीं, संघ के लिए काम करते हैं और उनके राजनैतिक जीवन के कथित 57 साल देश की नहीं, संघ की सेवा में गुजरे हैं। वही संघ जिसके 'दर्शन' और 'अनुशासन' की उन्होंने संसद तक में कई बार मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। हाँ, बाकी संघ संप्रदायियों की तुलना में उनके व्यक्तित्व की यह विशिष्टता है कि वे निरंतर भ्रम और विसंगति की स्थिति पैदा करने और बनाए रखने में माहिर हैं। इस भ्रम और विसंगति का शिकार न केवल मीडिया होता है, बड़े–बड़े राजनैतिक विश्लेषक और नेता भी होते हैं। ऐसे परिदृश्य में कुछ समय के लिए अगर आम जनता भी उसका शिकार हो जाती है, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। दरअसल, फासीवाद भ्रम की स्थितियाँ पैदा करके परवान चढ़ता है।

'अगर यही हिंदुत्व है तो उससे दूर रहना ही ठीक है' कह कर वाजपेयी ने एक बार फिर भ्रम और विसंगति की स्थिति पैदा करने की कोशिश की। इस वक्तव्य में वे अपने को कट्टरपंथी हिंदुत्व से अलगाने का पैंतरा चल रहे थे। गोया भारतीय समाज में कट्टरपंथी हिंदुत्व का स्रोत संघ संप्रदाय न होकर कोई और संगठन हो। वाजपेयी उदार नहीं, कट्टरपंथी हिंदू हैं, जिनके बारे में लोहिया ने कहा था : ''कट्टरपंथी हिंदू अगर सफल हुए तो चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी हो, भारतीय राज्य के टुकड़े कर देंगे, न सिर्फ हिंदू–मुस्लिम दृष्टि से, बल्कि वर्णों और प्रांतों की दृष्टि से भी। केवल उदार हिंदू ही राज्य को कायम कर सकते हैं।'' लोहिया ने यह भी कहा कि कट्टरपंथी निहायत क्रूर होता है। वाजपेयी की क्रूरता को उड़ीसा में पादरी स्टेंस और और उनके दो बच्चों को जिंदा जलाने की घटना पर उनकी प्रतिक्रिया में ही नहीं, गुजरात की घटना पर उनकी प्रतिक्रिया में भी देखा जा सकता है। मार्च के पहले सप्ताह में दिल्ली के कुछ बुद्धिजीवियों और कलाकारों की एक सभा में प्रसिद्ध आलोचक प्रोफेसर नामवर सिंह ने गुजरात की हिंसा के विरोध में एक शिष्ट–मंडल के साथ प्रधानमंत्री वाजपेयी से की गई अपनी मुलाकात का जिक्र किया। उन्होंने बताया कि जब प्रधानमंत्री से यह कहा गया कि अगर आप गुजरात की हिंसा को देश के माथे पर कलंक मानते हैं तो उस कलंक को मिटा क्यों नहीं देते? मातमी मौकों पर भी जुमलेबाजी से बाज न आने वाले वाजपेयी ने कहा कि कलंक मिटाने के लिए माथे को ही नहीं मिटा दिया जाता! शिष्ट–मंडल की गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी को हटाने की माँग को वाजपेयी ने जुमलेबाजी की आड़ में हवा में उड़ा दिया।

गोवा की राजधानी पणजी के भाषण में प्रधानमंत्री के चोले को चीर कर वाजपेयी के भीतर का स्वयंसेवक चीखता हुआ बाहर आ गया। अगले दिन उनका स्पष्टीकरण भी आया, लेकिन, जैसा कि आगे के विश्लेषण में हम देखेंगे, उससे उनकी संघ के स्वयंसेवक की छवि ही मजबूत होकर निकली। भाषण और स्पष्टीकरण दोनों में यही उनका उद्देश्य भी था। गोवा में वाजपेयी समेत पूरी भाजपा कार्यकारिणी ने हिंदुत्व यानी सांप्रदायिकता का दाव खुल कर खेला। एक बार फिर कहना होगा कि संघ संप्रदाय के भीतर वाजपेयी की 'उदार' और अडवाणी की 'कट्टर' लाइनों का अंतर्संघर्ष देखने वाले विश्लेषकों के सामने अब अंततः यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि संघ संप्रदाय के विश्लेषण की यह पद्धति भ्रामक है। सच्चा स्वयंसेवक उदार नहीं होता। वह कट्टर ही होता है, भले ही उसमें मात्रा–भेद हो। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि जब विचारधारा कट्टर हो तो व्यक्तिगत उदारता–अनुदारता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जिस तरह उदारता उदारता को पुकार लेती है, उसी तरह कट्टरता की पुकार पर कट्टरता सक्रिय होती है। गोवा में यही हुआ – अडवाणी के सारथी नरेंद्र मोदी की पुख्ता कट्टरता ने वाजपेयी की कुछ कमतर कट्टरता को अपनी ओर खींच लिया। अक्सर यह देखा गया है कि संघ से निकला या निकाला गया कोई भी नेता राजनीति में 'सर्वाइव' नहीं कर पाता। इसका प्रमुख कारण कट्टरता की परिघटना में खोजा सकता है। कट्टरता का विचारधारात्मक और अनुशासनात्मक लौह–शिकंजा व्यक्ति की उदारता की संभावनाओं का भरसक नाश कर देता है। ऐसे में

कट्टरता ही व्यक्तित्व का 'गुण' बन जाती है। यह भी सही है कि इस लौह–शिकंजे में मानवीय और बौद्धिक रूप से कमजोर तथा ऐसे लोग आते हैं, जिनमें स्वतंत्र रूप से संघर्ष का माद्दा नहीं होता। वे संगठन में ही सुरक्षित और शक्तिशाली अनुभव करते हैं। अपने भीतर और बाहर से उठने वाली आलोचनात्मक आवाज के प्रति उनकी चेतना धीरे–धीरे कुंद होती चली जाती है। अंतिम परिणति में वे कट्टरता में ही चिर हो जाते हैं। ऐसे लोग अव्वल तो कट्टरता के खोल से बाहर आते ही नहीं, इक्का–दुक्का कोई बाहर आ भी जाए तो वह उदार क्षेत्र की राजनीति के लायक नहीं रह जाता।

ऐसी स्थिति कम से कम आनी चाहिए कि किसी नेता को अपने वक्तव्य पर अतिरिक्त स्पष्टीकरण देना पड़े। अगर देश के शीर्षस्थ नेता बार–बार अपने बयानों पर सफाई देते हैं तो समझ लेना चाहिए कि उनमें संवैधानिक मूल्यों–मान्यताओं और देश की जनता के प्रति 'बेसिक' ईमानदारी का अभाव है। भारतीय राजनीति में प्राय: सभी राजनैतिक पार्टियों के नेता भाषा की कुछ न कुछ बाजीगरी करके जनता को छकाते हैं। उनका ज्यादातर भाषिक उद्यम – लिखित और मौखिक – जनता के साथ झूठ बोलने और फरेब करने की दिशा में होता है। जहाँ तक संघ संप्रदाय का सवाल है, भारतीय राजनीति में वह अकेला ऐसा संगठन है जो निरंतर झूठ बोलने और फरेब करने के लिए 'अभिशप्त' है। देश के संविधान और समाज के बहुलताधर्मी चरित्रा को अस्वीकार करने के बावजूद जब संघ संप्रदाय राजनीति करता है, तो छल करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। संघ संप्रदाय इसी आशा में छल–कपट किए जा रहा है कि एक दिन वह देश के संविधान और समाज को अपनी विचारधारा के अनुरूप बदल देगा। जिस तरह सुई के छेद से हाथी नहीं निकाला जा सकता, उसी तरह से भारत के संविधान और समाज को 'हिंदुत्व' की संकीर्ण विचारधारा में घटित नहीं किया जा सकता। लिहाजा, संघ संप्रदाय के नेता कपट–भाषा का इस्तेमाल करने के लिए 'अभिशप्त' होते हैं। कपट–भाषा के पीछे कपट–बुद्धि होती है। संघ संप्रदाय की कपट–बुद्धि केवल संविधान और समाज के विरोध में ही नहीं होती, अगर भक्ति की दृष्टि से देखें तो वह ईश्वर–विरोधी भी होती है। भारत का साधारण आदमी यह जानता है कि कपट या भेद–बुद्धि वाले व्यक्ति के भीतर ईश्वर का का वास नहीं होता। बल्कि अंगद का रावण को कहना था कि भेद होता ही उसके 'मन' में है जिसके 'हृदय' में श्री राम नहीं होते : सुन सठ भेद होई मन ताके। श्री रघुबीर हृदय नहीं जाके।। कहने का आशय यह है कि बाकी नेताओं का छल–कपट जहाँ राजनीतिक–आर्थिक क्षेत्र तक सीमित रहता है, संघ संप्रदाय के नेता धर्म एवं संस्कृति को भी अपना शिकार बना कर विकृत करते हैं।

अपने भाषण पर दी गई वाजपेयी की सफाई आधी–अधूरी थी। उन्होंने इस्लाम पर अपनी टिप्पणी की सफाई तो दी लेकिन, गोधरा की घटना पर संघ संप्रदाय की लाइन लेने की कोई सफाई उन्होंने नहीं दी। उन्होंने कहा कि इस्लाम पर अपनी टिप्पणी में वे उसके उदार और कट्टर दोनों रूपों की चर्चा कर रहे थे। उनके ऐसा कहने पर किसी को ऐतराज नहीं होना चाहिए।

कट्टरता किसी भी धर्म में हो, जोकि होती ही है, उसकी निंदा की जानी चाहिए। लेकिन असलियत में वाजपेयी इस्लाम की कट्टरतावादी धारा के बहाने इस्लाम धर्म की ही भर्त्सना कर रहे थे। अगर कट्टरता की भर्त्सना करना उनका उद्देश्य होता, तो वे सबसे पहले अपने गिरेबां में झाँकते कि एक धुर कट्टरतावादी संगठन का मुखिया किस मुँह से इस्लामी कट्टरता का विरोध कर रहा है। संघ संप्रदाय की कट्टरता को और मजबूत करने के उद्देश्य से की गई इस्लाम धर्म की कट्टरता की निंदा का कोई सुफल न तो इस्लाम की उदारवादी धारा के लिए हो सकता है और न ही हिंदू धर्म की उदारवादी धारा के लिए। वाजपेयी के भाषण में इस्लामी जेहाद का जिक्र जोर–शोर से आया ताकि अमरीका भी सुन ले। हालाँकि इस्लाम के धार्मिक नेता और व्याख्याकार जेहाद का सही अर्थ बताते हुए दुनिया के कुछ हिस्सों में सक्रिय 'जेहादियों' से अपना मतभेद जाहिर करते हैं, फिर भी यह सही है कि जेहाद की प्रवृत्ति हजारों मुस्लिम युवकों को गुमराह कर उनका और उनके द्वारा दूसरों का जीवन नष्ट कर रही है। दुनिया और सभ्यता के मसले लोकतांत्रिक और शांतिपूर्ण तरीकों से हल हों, इसके लिए जेहाद समेत सभी तरह की उग्रवादी विचारधाराओं और कार्रवाइयों पर रोक लगनी चाहिए। जहाँ तक जेहाद का सवाल है, उसे रोकने के लिए इस्लाम धर्मावलंबियों से बढ़ कर कोई और कारगर नहीं हो सकता। इस मामले में उन्हें धर्मनिरपेक्ष और उदार हिंदुओं से सीखना चाहिए, जो लगातार संघ संप्रदाय की कट्टरता और संकीर्णता का विरोध करते हैं। लेकिन इस्लामी जेहाद के साथ ही, सारी दुनिया में अपना साभ्यतिक–आर्थिक–राजनैतिक वर्चस्व कायम करने के लिए जारी अमरीकी 'जेहाद' और दुनिया के गरीब मुल्कों के खिलाफ उसके नेतृत्व में जारी वैश्विक वित्तीय संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के 'जेहाद' की भर्त्सना भी कम से कम गरीब मुल्कों के शासनाध्यक्षों को करनी चाहिए। 'हिंदुत्व' की कूपमंडूकता में गर्क वाजपेयी ने उस विषय पर न गोवा में और न ही अन्यत्र कभी कुछ कहा है। देश जब नवसाम्राज्यवादियों का गुलाम हो जाएगा तो हिंदू–मुसलमान का मसला भी वे ही तय करेंगे। जैसाकि साम्राज्यवादी अंग्रेजों ने किया था।

वाजपेयी ने पणजी के अपने भाषण में पूरे जोश में भर कर एक बार फिर गुजरात में अल्पसंख्यकों के नरसंहार को गोधरा के नरसंहार की 'क्रिया की प्रतिक्रिया' बताया और अपनी इस व्याख्या की कोई सफाई देना उचित नहीं समझा। गुजरात की घटनाओं को देश के माथे पर कलंक बताने वाले और और मोदी को 'राजधर्म' का पाठ पढ़ाने वाले वाजपेयी अपने भाषण में पूरी तरह से संघ के रंग में रंगे हुए नजर आए। जो मोदी और अन्य संघियों ने शुरू में कहा और लगातार प्रचारित किया, अंत में वही वाजपेयी ने भी कहा। उन्होंने गुजरात की असामान्य स्थिति को पूरी तरह से नजर अंदाज करते हुए वहाँ तुरंत चुनाव कराने के फैसले पर भी अपनी मुहर लगा दी। खुद राज्य की दो महत्वपूर्ण संस्थाओं राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की रपटों और माँगों को भी उन्होंने एक सिरे से नजर अंदाज कर दिया। कट्टरता किस कदर क्रूर और अंधी हो सकती है, इसका भरपूर नजारा भाजपा की गोवा में हुई बैठक में देखने को मिला। विश्व हिंदू परिषद और बजरंग दल की कट्टरता की सार्वजनिक निंदा

करने की हिम्मत दिखाने वाले और गुजरात के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी को कटघरे में खड़ा करने वाले शांता कुमार को कट्टरतावादियों के इस समागम में 'अछूत' बना दिया गया। अपनी ऐसी गत से घबड़ा कर शांता कुमार ने गिड़गिड़ाते हुए पार्टी अध्यक्ष से लिखित माफी माँग ली।

ऐसा नहीं है कि सत्ता और संघ संप्रदाय के शिखर पर बैठे वाजपेयी को गोधरा की घटना के पीछे निहित कारणों की जानकारी न हो। (गोधरा के बाद की हिंसा और तबाही को राज्य के राजनैतिक नेतृत्व ने जिस सुनियोजित ढंग से अंजाम दिया और संघ संप्रदाय ने मुसलमानों के खिलाफ जिस तरह के पर्चे बाँटे – वह सब भी पूरे देश के साथ वाजपेयी की जानकारी में था।) लेकिन अपने भाषण में वे वह सब छिपा लेते हैं, ताकि यह 'सिद्ध' किया जा सके कि गोधरा के बाद हुई हिंसा और औरतों के बलात्कार के लिए मुसलमान खुद जिम्मेदार हैं। लिहाजा, मोदी और उसके नेतृत्व में संचालित राजनैतिक–प्रशासनिक तंत्र के खिलाफ कार्रवाई का सवाल ही नहीं उठता। वैसे भी 'हिंदुत्ववादी' अपनों के खिलाफ कानूनी कार्रवाई नहीं करते। महाराष्ट्र में शिवसेना–भाजपा सरकार द्वारा मुंबई दंगों पर तैयार की गई श्रीकृष्ण आयोग की रपट के हश्र में यह देखा जा सकता है। पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर ने अपने पचहत्तरवें जन्मदिन के उत्सव में वाजपेयी को संघ संप्रदाय के खिलाफ साहस दिखाने की नसीहत दी। उन्हीं वाजपेयी को, जो अपने संघी चरित्र की संगति में समस्त नैतिक–राजनैतिक–संवैधानिक मूल्यों के खिलाफ उत्कट साहस का प्रदर्शन कर चुके हैं!

यह लेखक सांप्रदायिकता की समस्या पर लिखे अपने लेखों में लगातार यह कहता रहा है कि वाजपेयी की उदारता के गुणग्राहक दरअसल भ्रम के शिकार हैं और अभी के सामाजिक–राजनैतिक परिदृश्य में सांप्रदायिकता के प्रसार की वाजपेयी–शैली ज्यादा प्रभावी और कारगर है। सांप्रदायिकता भड़काना और सांप्रदायिकता को सामाजिक–राजनैतिक वैधता दिलाना, एक–दूसरी से जुड़ी होने के बावजूद इन दोनों स्थितियों में पर्याप्त अंतर है। भड़की हुई सांप्रदायिकता जल्दी ही शांत हो सकती है। लेकिन उसे अगर सामाजिक–राजनैतिक वैधता हासिल होती है, तो फिर सामाजिक–राजनैतिक संरचना के लिए वह एक स्थायी आपदा बन जाती है। ऐसी समस्या जिसे नासूर कहते हैं। भारतीय राजनीति के हाल के समय में सांप्रदायिकता भड़काने में जहाँ अडवाणी की अहम भूमिका है, वहीं सांप्रदायिकता को सामाजिक–राजनैतिक वैधता दिलवाने में वाजपेयी की भूमिका अहम है। वे देश के प्रधानमंत्री की हैसियत से अपनी इस भूमिका को अंजाम दे रहे हैं। अडवाणी की रथयात्रा से, नरेंद्र मोदी जिसमें सारथी की भूमिका में थे, देश के सामाजिक–सांस्कृतिक ताने–बाने और संवैधानिक मूल्यों के लिए गंभीर धमकी (थ्रेट) उपस्थित हुई थी। इससे कौन इनकार करेगा कि वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व में उस धमकी पर अमल हुआ है। देश में गुजरात से लेकर अयोध्या तक सांप्रदायिकता का जो नाच हो रहा है उसके कर्ताओं में सर्वप्रमुख वाजपेयी ही हैं और उनकी भूमिका को इसी रूप में देखा जाना चाहिए। इससे पहले कि और देर हो जाए, सांप्रदायिकता के प्रसार से चिंतित विचारकों और नेताओं को यह सच्चाई समझनी चाहिए। राजग के सहयोगी

दलों के नेताओं के लिए तो यह और भी जरूरी है, जो यह कहते हुए सरकार में शामिल हुए थे कि वाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा अपना सांप्रदायिक चरित्र छोड़ कर राष्ट्र की मुख्य यानी धर्मनिरपेक्ष धारा में मिल जाएगी। हुआ बिल्कुल उल्टा है। वाजपेयी के नेतृत्व में खाते–पीते शिक्षित और सवर्ण मध्यवर्ग में सांप्रदायिकता की तेजी से पैठ हुई है। विश्व हिंदू परिषद, शिव सेना, बजरंग दल जैसे सांप्रदायिक संगठनों को किसी के साथ कुछ भी करने की मनमानी छूट मिली है। संघ की सांप्रदायिक विचारधारा को बहस के केंद्र में स्थापित कर दिया है। आगे की पीढ़ियों में बचपन से ही सांप्रदायिक संस्कार डालने के लिए शिक्षा एवं शोध की संस्थाओं में संघ के लालबुझक्कड़ विद्वान दिन–रात पाठ्यक्रम परिवर्तन के काम में लगे हुए हैं।

संक्षेप में, वाजपेयी के नेतृत्व में संघ संप्रदाय द्वारा देश को तोड़ने की तैयारी चल रही है। देश की टूट के लिए भौगोलिक विभाजन जरूरी नहीं है। वह भीतर से भी टूटता है। अगर अल्पसंख्यक समुदायों को संविधान में प्रदत्त अधिकारों से वंचित कर, बहुसंख्यक समुदाय के रहमोकरम पर जीवित रहने को मजबूर किया जाता है, तो उसे देश का टूटना ही कहा जाएगा। इतना ही नहीं, समाज के बाकी वंचित समूहों – दलित, आदिवासी, पिछड़े और स्त्रियाँ – के पक्ष में व्यवस्था–परिवर्तन नहीं होता तो भी हम एक खंडित राष्ट्र में ही रह रहे होंगे। वह एक अलग विषय है और यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि जिस तरह से सार्वजनिक क्षेत्र की संपत्तियों को वैश्विक आर्थिक संस्थाओं के 'डिक्टेट' पर औने–पौने दामों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बेचा जा रहा है, उससे वंचित समूहों का उच्छेदन और तेज होगा। बाजारवाद के तहत देश को बेचने की प्रक्रिया संप्रदायवाद के तहत देश को तोड़ने की प्रक्रिया को मजबूत करती है।

अब यह देश के उदार और धर्मनिरपेक्ष नागरिकों की जिम्मेदारी है कि वे वाजपेयी के नेतृत्व में चल रहे कट्टरपंथी हिंदुत्व की देश तोड़ने की तैयारी का मुकाबला करते हैं या उनके द्वारा पैदा की जाने वाली भ्रम और विसंगति की स्थिति का ही शिकार बने रहते हैं। यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि भाजपा का मौजूदा वरिष्ठ नेतृत्व संघ के साथ नाभिनाल संबद्ध होने के साथ ही संवैधानिक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के बीच भी पला–बढ़ा नेतृत्व है। इसलिए वह भ्रम और विसंगति की स्थिति पैदा करके अपना अभियान चलाता है। आज के सांप्रदायिक माहौल में पलने–बढ़ने वाला भविष्य का भाजपा नेतृत्व वैसा नहीं होगा। वह कैसा होगा, इसकी बानगी मोदी ने दिखा दी है। वह अनिवार्यत: सर्वथा क्रूर और फासीवादी नेतृत्व होगा। तब उसका मुकाबला करना धर्मनिरपेक्षतावादियों के लिए और भी कठिन होगा।

बहरहाल, पिछली सांप्रदायिक हिंसाओं की तरह गुजरात की हिंसा भी अंतत: थम गई और जीवन फिर से बहाल हो गया है। सांप्रदायिक दंगों की आग में झुलसते हुए गाँधी ने विश्वास दिया था कि मौत के पागल सौदागरों के मुकाबले जीत अंतत: जीवन की ही होती है। जाफरी की पत्नी फिर से अपने उसी घर में आकर बसने की बात कही, जहाँ उनके पति और परिवार को जला कर मारा गया था। हिंसा से प्रभावित अन्य लोग भी शांति और सौहार्द के साथ

आगे का जीवन फिर से शुरू करने की बात कही। भले ही उनका जीवन अब वही नहीं रहेगा। लेकिन बचा–खुचा जीवन फिर से न उजड़े, इसकी चिंता देश के कर्णधारों को करनी चाहिए। वरना सांप्रदायिक हिंसा में फिर से उजड़ने के लिए तो जीवन पहले भी कई बार बस चुका है।

गुजरात में 12 दिसंबर को संपन्न हुए चुनावों से पूर्व सांप्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों खेमों का कहना था कि इन चुनावों का असर देश के समाज और राजनीति के लिए दूरगामी होगा। चुनावी नतीजे भाजपा के पक्ष में गए। नतीजों पर देश में काफी चर्चा हुई। लेकिन इस दौरान हमारे राष्ट्रीय जीवन को मथ डालने वाला गुजरात प्रकरण आगे भी चर्चा का विषय बना रहेगा। जैसा कि दस साल पहले हुआ बाबरी मस्जिद का ध्वंस आज तक बना हुआ है। गुजरात प्रकरण में चर्चा के कई पहलू हैं और आगे कुछ अन्य पहलू भी उभरते रहेंगे। इस विमर्श में धर्मनिरपेक्षतावादियों और मॉडरेटों के लिए यह ध्यान रखना जरूरी है कि देश के अल्पसंख्यक समूह उत्तरोतर अलगावग्रस्त होते न चले जाएँ। संघ संप्रदाय की कोशिश यही है कि हमारे समाज की विविधता और बहुलता की खूबी अलगावग्रस्त बाड़ों (घेटोज) में तब्दील हो जाए और बहुसंख्या के आधार पर सबसे बड़ा बाड़ा सर्वोपरि माना जाए।

ऐसे में कम से कम धर्मनिरपेक्षतावादियों और मॉडरेटों की ओर से अल्पसंख्यकों को ऐसा न लगे कि उनकी अपनी समझ और व्यवहार की अनदेखी कर उन्हें दया का पात्र बनाया जा रहा है। कहने की जरूरत नहीं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने 'हिंदू–राष्ट्र' में अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक हिंदुओं की कृपा पर जीने की छूट देता है। गुजरात में अमानवीय गोधरा कांड के बाद वहाँ के मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी ने संघ संप्रदाय और सरकारी मशीनरी के मातहत मुसलमानों का जो खुला नरसंहार किया, उसका खुलासा कई सरकारी और गैर–सरकारी संस्थाओं और व्यक्तियों ने किया। पूरे गुजरात प्रकरण को लेकर संप्रदायवादियों और धर्मनिरपेक्षतावादियों के बीच तीखी भिड़ंत हुई, जो अभी तक जारी है। संप्रदायवादी मुसलमानों को प्रताड़ित करने और धर्मनिरपेक्षतावादी उन्हें बचाने की मुहिम में जुटे हैं। लेकिन इस द्वंद्वमें मुसलमानों की समझ और व्यवहार का नोटिस किसी भी पक्ष ने नहीं लिया है। वे गोया गरीब की जोरू हैं और राष्ट्रीय जीवन में उनकी अपनी कोई भूमिका न है, न आगे रहेगी। एक दलित लेखक ने तो यह भी कहा है कि अगर दलितों–आदिवासियों को संघ की ओर से तोड़ना है तो धर्मनिरपेक्षतावादियों को मुसलमानों की हिमायत करना बंद कर देना चाहिए।

गुजरात की घटनाओं के करीब एक सप्ताह बाद दिल्ली में त्रिवेणी कला संगम के खुले मंच पर बुद्धिजीवियों की एक सभा हुई थी। सभा में दिल्ली के कई लेखकों और कलाकारों के अलावा गुजरात से लौटे कुछ लोग भी शामिल थे, जिन्होंने वहाँ अपनी आँखों से देखी नृशंसताओं का विवरण सुनाया। सभा में वक्ताओं ने चिंता और आक्रोश के स्वर में गोधरा और उसके बाद के नरसंहार पर अपना विरोध व्यक्त किया। साथ ही सांप्रदायिक ताकतों से लोहा लेने का आह्वान भी किया गया। सभा में जामिया मिलिया इस्लामिया यूनिवर्सिटी के हिंदी विभाग से अवकाश प्राप्त प्रोफेसर मुजीब रिजवी को भी अपने विचार व्यक्त करने के लिए

बुलाया गया। 'साहेबान मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि आप लोग क्या कह रहे हैं . . .' – महज इतना कह कर वे बैठ गए। उनके बाद बोलने आए बाकी वक्ता धुँआधार अंदाज में गुजरात प्रकरण के लिए दोषी सांप्रदायिक शक्तियों पर बरसते रहे। शायद ही किसी ने यह महसूस किया हो कि आजादी के बाद मुस्लिम अस्मिता पर आए सबसे घनघोर संकट की घड़ी में, मर्माहत होने के बावजूद, मुजीब साहब का व्यवहार बाकी धर्मनिरपेक्षतावादियों के मुकाबले ज्यादा जिम्मेदारी और शालीनता से भरा था।

तब से अब तक गोधरा और बाकी गुजरात को लेकर बहुत कुछ कहा–सुना और लिखा गया है। समाज में भी और राजनीतिक हलकों में भी। चुनाव घोषित होने के बाद और उसके दौरान तो कहा–सुनी बहुत ही बढ़ गई थी। चुनाव से पहले लगभग एक साल तक छाए रहे गुजरात प्रकरण में एक खास बात पर ध्यान देने की जरूरत है कि एक भी मुसलमान नेता या आम नागरिक ने अपने वक्तव्यों में शालीनता का दामन नहीं छोड़ा है। जामा मस्जिद के उन शाही इमाम ने भी नहीं, जो अपने भड़काऊ भाषणों के लिए जाने जाते हैं और अपनी 'गद्दी' सुरक्षित रखने के लिए मुस्लिम जीवन की बाड़ेबंदी करने में मशगूल रहते हैं। जबकि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सांप्रदायिक नेता अपनी क्रूरताओं और कुकर्मों को गौरवान्वित करते हुए खुले आम पूरे देश में गुजरात दोहराने की धमकियाँ देते रहे; राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के अपने को धर्मनिरपेक्षतावादी और सामाजिक न्यायवादी कहने वाले नेता गुजरात में मानवता और संविधान की हत्या होने के बावजूद दिल्ली में सरकार चलाते रहे; चारों पूर्व प्रधानमंत्री निष्क्रिय और लगभग खामोश बैठे रहे; चंद्रशेखर ने तो अल्पसंख्यकों को धमकाने और मारने की संघ संप्रदाय की मुहिम का सफल नेतृत्व करने वाले अटलबिहारी वाजपेयी को अपने पचहत्तरवें जन्मदिन पर मुख्य अतिथि बना कर बुलाया; यहाँ तक कि दलितवादी नेताओं ने भी मुसलमानों की ओर से आँखें फेर कर उत्तर प्रदेश में भाजपा के सहयोग से सरकार बना ली और बदले में शुश्री मायावती गुजरात में भाजपा के पक्ष में चुनाव प्रचार करने गईं; मुख्य धारा मीडिया मुसलमानों के खिलाफ लगातार सांप्रदायिक जहर उगलने वाले नेताओं को खुला मंच प्रदान करता रहा; और चुनावी मुद्दे की गाड़ी भी गोधरा पर ही अटकी रही, उसके बाद के नरसंहार को गुजरात का गौरव बना दिया गया।

धर्मनिरपेक्षतावादियों ने भले ही मुसलमानों के व्यवहार पर गौर नहीं किया हो, संघ संप्रदाय के नेताओं के पास उनके वैसे व्यवहार का तैयार स्पष्टीकरण मौजूद था, जिसे वे अपने शिविरों–सम्मेलनों से लेकर शाखाओं तक दोहराते रहे। वह स्पष्टीकरण है – 'गुजरात की मार ने मुसलमानों की ऐंठ और अकड़ हमेशा के लिए निकाल दी है'। संघ संप्रदाय की नजर में गुजरात में वह हिंदू जाग उठा, जिसे वह 75 साल से जगाने में लगा हुआ था। इस हिंदू जागृति के अग्रदूत यह प्रचारित करने में जुटे रहे कि जाग उठे हिंदू को कम से कम 12 दिसंबर तक नहीं सोना चाहिए, ताकि चुनाव फतह किया जा सके। यानी अल्पसंख्यकों के नरसंहार की आग पर चुनावी रोटियाँ सेंकने तक ही हिंदू जागृति का अर्थ महदूद है। संघ संप्रदाय की हिंदू जागृति की

रणनीति इस कदर हावी रही कि कांग्रेस भी उसी का पल्ला पकड़ कर चुनावी मैदान में उतरी। गुजरात में कांग्रेस वाकई भाजपा की बी टीम दिखाई दी। हो भी क्यों न, 1984 के दंगों में उसके नेतृत्व में पूरे उत्तर भारत में सिखों की अकड़ और ऐंठ निकाली गई थी! बहरहाल, रजनी कोठारी ने उस वक्त यह ठीक ही कहा कि (हिंदू जागृति ने) गुजरात में विचारधारा और नेतृत्व को मौत नींद सुला दिया है।

इस लेखक ने विभिन्न पेशों से जुड़े मुसलमान साथियों से गुजरात प्रकरण पर चर्चा की। चर्चा के दौरान उनमें से किसी ने भी संघ संप्रदाय के नेताओं के खिलाफ, वैमनस्य तो छोड़िये, शिकायत का भी इजहार नहीं किया। उन्होंने पूरे प्रकरण को सामाजिक ताने–बाने और राष्ट्रीय संदर्भों में विश्लेषित करने की कोशिश की। सभी ने गोधरा कांड की तो निंदा की, लेकिन उसके बाद की घटनाओं पर केवल दुख और अफसोस जाहिर किया; किसी भी तरह का कट्टर इस्लामवादी आग्रह उन्होंने नहीं दिखाया। जामिया के ही अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर एसएनएच जाफरी से जब इस बाबत चर्चा हुई तो उन्होंने उन कट्टरतावादी मुस्लिम प्रवृत्तियों का जिक्र किया, जिनका सामना उन्हें बचपन से करना पड़ता रहा है। हिंदुत्ववादियों के खिलाफ एक लफ्ज भी उन्होंने नहीं कहा। अलबत्ता यह पछतावा जरूर जाहिर किया कि उन्होंने कट्टरतावाद, विशेषकर मुस्लिम कट्टरतावाद के खिलाफ और धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में सक्रिय भूमिका नहीं निभाई, जो कि उन्हें निभानी चाहिए थी। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के हड्डी विभाग के अध्यक्ष रहे प्रोफसर मोहम्मद फारूख ने बहुत ही कातर स्वर में कहा कि वे अपने पूरे कैरियर में बगैर अमीर–गरीब और हिंदू–मुसलमान का फर्क किए मरीजों की सेवा करते रहे। यह पता ही नहीं चल पाया कि दोनों समुदायों में एक–दूसरे के लिए नफरत का जहर इस कदर भरा जा चुका है। हिमाचल प्रदेश यूनिवर्सिटी के इतिहास विभाग के अध्यक्ष रहे प्रोफेसर अहसन रजा बिंदास प्रकृति के शख्स हैं और बाबरी मस्जिद के ध्वंस पर लिखे अपने कुछ लेखों के लिए चर्चा में रहे हैं। वे लेख और उन पर आई प्रतिक्रियाएँ पुस्ताकार छप चुकी हैं। पुस्तक का विमोचन दिल्ली में मानव संसाधन मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने किया था। जाहिर है, रजा साहब संघियों से रप्त–जप्त बना कर रखते हैं। उनसे जब गुजरात प्रकरण पर चर्चा हुई तो उनका भी कहना था कि घृणा का जवाब घृणा नहीं होना चाहिए। साथी शम्सुल इस्लाम संप्रदायवादी–ब्राह्मणवादी विचारधारा के सतत विरोधी रहे हैं। अधिकांश मुस्लिम बुद्धिजीवियों की तुलना में उनकी खासियत है कि वे एक समर्पित और साहसी आंदोलनकारी भी हैं। सांस्कृतिक संगठन निशांत नाट्य मंच के तत्वावधान में उनके ग्रुप ने दो बार गुजरात जाकर हिंसा प्रभावित इलाकों में नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन किए। सांप्रदायिकता की समस्या पर उनसे अक्सर चर्चा होती है। वे सांप्रदायिक ताकतों की निर्गुण चर्चा नहीं करते। बाकायदा नाम लेकर अपनी बात रखते हैं और प्रतिरोध दर्ज करते हैं। लेकिन घृणा का जवाब घृणा से देने की वकालत कभी नहीं करते। वे हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता के जितने मुखर विरोधी हैं, उतने ही मुस्लिम सांप्रदायिकता के भी।

यहाँ एक वाकये का जिक्र करना चाहूँगा जो गुजरात प्रकरण से पहले का है। अपने गाँव

के पास के एक बुजुर्ग मुसलमान से एक दिन मुलाकात हुई, तो उन्होंने हँस कर मजाकिया लहजे में कहा कि 'क्या अब हम लोगों के इतने बुरे दिन आ गए हैं कि बनिया–बाम्हन हमारी पिटाई करें!' जब मैंने उनकी बात को समझने में असमर्थता जताई, तो उन्होंने स्पष्ट किया कि 'मुसलमानों का झगड़ा यहाँ की मार्शल कौमों से था। कुछ इतिहास के साथ निपट गया कुछ इतिहास में दफन हो गया। अलबत्ता तो देश की तकसीम होनी नहीं चाहिए थी और हो गई है तो अब दंगा–फसाद नहीं होना चाहिए। सभी को मिल कर अपने देश को आगे बढ़ाना चाहिए। उन्होंने आगे कहा कि अब जो लोग गड़े मुर्दे उखाड़ रहे हैं, वे उस वक्त कहाँ थे जब देश में मुसलमानी राज कायम हो रहा था?उन्होंने यहाँ के राजाओं के साथ मिल कर तलवार क्यों नहीं उठाई?अपनी औलादों को वे सेना में सिपाही भर्ती होने के लिए क्यों नहीं भेजते?क्यों अपना धन–संपत्ति और रुतबा बचाने और बढ़ाने के लिए किसी भी विदेशी बादशाह की, चाहे वह मुसलमान हो या अंग्रेज, गुलामी कबूल करते रहे?अब जब देश आजाद हो गया है और पाकिस्तान बनने के बाद मुसलमान काफी कम संख्या में रह गए हैं तो ये लोग हमें डराते–धमकाते हैं। यह गलत बात है। मार्शल कौमें कह दें कि हम इस देश में नहीं रह सकते तो हम कोई और ठिकाना ढूढ़ेंगे।'

कहना न होगा कि यह उन बुजुर्ग द्वारा प्रस्तुत लोकधर्मी इतिहास की एक बानगी है। लेकिन उनकी बातों से सांप्रदायिक हिंदुत्व के उभार के एक समाजशास्त्रीय पक्ष पर रोशनी पड़ती है। वह यह कि भारत में कौन–सी जातियाँ किन कारणों से सांप्रदायिकता की मानसिकता का शिकार होती हैं। सांप्रदायिकता के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के विस्तार में यहाँ नहीं जाना है। कहना केवल यह है कि चर्चा में उन बुजुर्ग ने अपनी बात कहते हुए संघ संप्रदाय के या अन्य किसी भी नेता के खिलाफ तीखी भाषा का इस्तेमाल नहीं किया। वे बिल्कुल सहज थे। हालाँकि मैंने उन्हें यह समझाने की कोशिश जरूर की कि गाँधी और लोहिया भी बनिया थे। आजादी के दौरान और उसके बाद कितने ही ब्राह्मण नेता हुए हैं, जिन्होंने धर्मनिरपेक्षता के लिए जीवनपर्यंत संघर्ष किया है। मैंने उन्हें यह भी बताया कि हिंसक और विध्वंसक कार्रवाइयों को अंजाम देने के लिए संप्रदायवादी नेता हमेशा मध्यवर्ती जातियों को उकसाते हैं। साथ ही वे दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों को भी सांप्रदायिकता की जद में लेने की कोशिश करते हैं। जबकि उनकी विचारधारा इन सभी समूहों की खिलाफत करती है।

गुजरात के बाहर ही नहीं, गुजरात के भुक्तभोगी मुसलमानों ने भी शुरू से ही लगातार संयम, सज्जनता और शालीनता का परिचय दिया। गुजरात के किसी मुसलमान ने गोधरा का जघन्य कांड करने वालों के पक्ष में आवाज नहीं उठाई। नरसंहार और आगजनी के बाद राहत कैंपों में आश्रय लेने वाले मुसलमान औरतों–मर्दों–बच्चों के चेहरों पर भय, पीड़ा और दीनता का भाव खुदा था, उग्रता कहीं नहीं थी। जबकि नरेंद्र मोदी से लेकर वाजपेयी तक ने गोधरा के बाद की नृशंसताओं का औचित्य प्रतिपादित करने में दिन–रात एक कर दिया। गुजरात में चुनावी दौरे पर गए वाजपेयी और अडवाणी ने नरेंद्र मोदी की 'लाइन' के पक्ष में ही अपने भाषण दिए। चुनाव के दौरान स्टार टीवी पर दिखाए गए 'बिग फाइट' कार्यक्रम में एमएस

यूनिवर्सिटी, बड़ोदा के प्रोफेसर बंदूकवाला ने मर्मांतक पीड़ा झेलने के बावजूद जिस तरह की विवेकपूर्ण बातें कहीं, उनसे मुसलमानों का सामाजिक–सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चरित्र सांप्रदायिक हिंदुओं के बरक्स पाएदार और ऊँचा सिद्ध हुआ। इस सच्चाई को भारतीय राष्ट्र और उसकी मजबूती में विश्वास रखने वाले सभी नागरिकों को देखना और कहना चाहिए, क्योंकि संघ संप्रदाय उस सच्चाई को अपने चश्मे से देख कर विकृत करता है।

खंड : दो

गुजरात की त्रासदी के बाद

गुजरात प्रयोग के बाद की तैयारी

मौजूदा लोकसभा (1999-2004) के लिए हुए पिछले आम चुनावों में भाजपा ने उन विवादास्पद मुद्दों – अयोध्या में राममंदिर का निर्माण, संविधान की धारा 370 का खात्मा और समान नागरिक संहिता – को तात्कालिक रूप से छोड़ कर और कुछ धर्मनिरपेक्ष दलों के साथ चुनाव–पूर्व गठबंधन बना कर एक साझा कार्यक्रम पर चुनाव लड़ा था। चुनावों के वक्त ही कारगिल की घटना हुई थी। भाजपा ने जनता की भावनाओं का जम कर दोहन किया। वह चुनाव जीत गई। तब उसे समर्थन देने वाले अधिकांश मतदाताओं और कुछ राजनैतिक विश्लेषकों को लगा था कि अब भाजपा अपनी सांप्रदायिक हिंदुत्व की विचारधारा को छोड़, देश की समस्त आबादी की समस्याओं से जुड़ कर अपनी आगे की राजनीति करेगी। अगर ऐसा होता तो वह भारतीय राजनीति के लिए अच्छा संकेत माना जाता। लेकिन वास्तविक समस्याओं से जुड़ने और जूझने के बजाय वह वैश्विक आर्थिक संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आदेश पर वैश्वीकरण–उदारीकरण की नीतियों और भ्रष्टाचार व घोटालों से जुड़ती चली गई। लोकसभा चुनाव के बाद राज्य विधानसभाओं के जितने भी चुनाव हुए, उनमें या तो वह और उसके सहयोगी हार गए या उनका वोट घट गया। वे चुनाव बहुत हद तक सरकारों के कामकाज, विकास, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, अशिक्षा जैसे जनता के जीवन से मुद्दों पर लड़े गए। प्रधानमंत्री और केंद्रीय सरकार के समक्ष भी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की रपटों के आधार पर जनता की बदहाली के आँकड़े प्रस्तुत कर सवाल पूछे जाने लगे। उस पर देश की संप्रभुता को भी गिरवीं रखने का लाँछन लगा। मजेदारी यह कि खुद संघ ने भी वैसे लाँछन लगाए। प्रधानमंत्री का यही मोटा जवाब आया कि यह सब विदेशियों द्वारा देश को बदनाम करने की साजिश है, भारत को कोई माई का लाल नहीं खरीद सकता। और बस। सरकार की चाल वही रही : वैश्वीकरण–उदारीकरण का अंधानुकरण।

एक राजनैतिक पार्टी के रूप में भाजपा को अपने खिसकते जनाधार पर भारी चिंता हुई। संघ संप्रदाय ने उसे साझा कार्यक्रम अपनाते वक्त ही चेताया था कि हिंदुत्ववादी विचारधारा को उसे छोड़ना महँगा पड़ेगा। अब संघ संप्रदाय ने और जोर–शोर से कहना शुरू कर दिया कि भाजपा को अपने हिंदुत्ववादी एजेंडे पर तुरंत लौट आना चाहिए। हालाँकि, साझा कार्यक्रम के बावजूद इतिहास, शिक्षा, संस्कृति आदि मामलों में भाजपा अपना सांप्रदायिक एजेंडा चालू किए हुए थी; उसने उसे चुनावी युक्ति के रूप में इस्तेमाल करने की भी ठान ली। संघ खुश हो गया और उसने अपना सारा सांप्रदायिक 'शौर्य' उस गुजरात में लगा दिया, जहाँ वह पहले से ही प्रयोग चला रहा था। गुजरात के गोधरा कस्बे में साबरमती एक्सप्रैस में सवार अयोध्या से लौट रहे 58 कारसेवकों को सरकारी सूचना के मुताबिक पूर्व–नियोजित साजिश के तहत मुसलमानों की भीड़ ने जिंदा जला दिया। हालाँकि उस जघन्य कृत्य के समय भी और आज भी गुजरात में भाजपा की सरकार है, देश की जनता को आज तक पता नहीं चल पाया है कि डिब्बे

में आग लगाने वाले 'मुसलमान' कौन थे! 'प्रतिक्रिया' में हजारों मुसलमानों को मार दिया गया और करोड़ों की संपत्ति राख कर दी गई। गुजरात का चुनाव भाजपा ने जीत लिया। इस तरह वैश्वीकरण–उदारीकरण की मुहिम को बचाने के लिए सांप्रदायीकरण की मुहिम को काम में लाया गया। और यह स्वदेशी–प्रेमी संघ संप्रदाय ने किया और अगले दिनों होने वाले कुछ राज्यों के चुनावों में भी वही करने का इरादा रखता है।

पिछले दिनों मौजूदा सरकार ने प्रवासी भारतीयों को बुला कर उनकी अभ्यर्थना की कि वे अपना धन भारत में लगाएँ। प्रवासी व्यापारियों का कहना था कि भावुकता और पूँजी–निवेश का कोई रिश्ता नहीं होता। हाँ, आटे में नमक बराबर देशभक्ति तो पूँजीवादियों में भी होती ही है, सो उसके नाम पर संघ/भाजपा को धन दिया जा सकता है। सभी जानते हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद करने के एवज में कुछ प्रवासी भारतीय संघ संप्रदाय को धन देते ही हैं। प्रवासी धन्नासेठों को बुलाने का संघ संप्रदाय का मतलब भी उतना ही था। संघ संप्रदाय के कारनामों को 'घायल सभ्यता' पर मरहम लगाने वाला मानने वाले भारतीय मूल के लेखक वीएस नॉयपाल की पाकिस्तानी मूल की पत्नी ने जब गुजरात प्रयोग का सवाल खड़ा किया, तो अडवाणी ने कहा कि गुजरात की घटना एक विचलन–मात्र थी। लेकिन जैसा कि होता है, संघ संप्रदाय के नेता बाहर कुछ और भीतर कुछ कहते रहते हैं। बाहर–भीतर वे कहें कुछ भी, करते वही हैं जो उनका मनभाया है। यानी सांप्रदायिकता की राजनीति, जिसे चलाने और दीर्घजीवी बनाने के लिए उसे अकूत धन चाहिए।

भाजपा मौजूदा गठबंधन सरकार का नेतृत्व करते हुए भी अपना सांप्रदायिक एजेंडा पूरी मुस्तैदी से चलाती रही है। गुजरात में सांप्रदायिक विद्वेष फैला कर चुनाव जीतना इसका प्रमाण है कि उसने कम से कम एक राज्य में समाज को भी सांप्रदायिक रंग में रँगने में काफी हद तक सफलता पाई है। भले ही ऐसा अभी एक राज्य में हुआ हो, संघ संप्रदाय की स्पष्ट घोषणा है कि देश में अगले दिनों होने वाले कुछ राज्यों के चुनावों में वह गुजरात प्रयोग को दोहराएगा। विश्व हिंदू परिषद ने गुजरात में चुनावी जीत के बाद हर हालत में अयोध्या में राममंदिर निर्माण का अल्टीमेटम एक बार फिर दे डाला है। मुख्य चुनाव आयुक्त लिंगदोह को एक बार फिर हिंदू धर्म का द्रोही बता दिया गया है। जनता को यह भी बार–बार याद दिलाया जा रहा है कि धर्मनिरपेक्षतावादी और मार्क्सवादी हिंदू–राष्ट्र के लिए अभिशाप हैं। इतना ही नहीं, 20 जनवरी को भाजपा महासचिव मुख्तार अब्बास नकवी ने घोषणा की कि जिन विवादास्पद मुद्दों को पार्टी ने केंद्र में गठबंधन सरकार होने के चलते फिलहाल छोड़ा हुआ है, प्रांतीय विधानसभा के चुनावों में उन्हें उठाएगी। उसके लिए वे राष्ट्रीय मुद्दे हैं। हालाँकि, पार्टी अध्यक्ष वेंकैया नायडू ने बाद में कहा है कि ये विचारधारात्मक मुद्दे भाजपा के अत्यंत मनभाए हैं, लेकिन विधानसभा चुनावों में उन्हें नहीं उठाया जाएगा। यानी फिलहाल वे स्थगित ही रहेंगे। नायडू ने गठबंधन सरकार के दो घटक दलों समता पार्टी और नेशनल कांफ्रेंस द्वारा नकवी के बयान पर ऐतराज उठाने के बाद ऐसा कहा है। गुजरात प्रयोग पर चुप्पी मार लेने वाले गठबंधन के अपने को

धर्मनिरपेक्षतावादी कहने वाले दलों का यह पाखंड ही है कि वे अब विवादास्पद मुद्दों पर ऐतराज उठा रहे हैं। लेकिन भाजपा का रवैया साफ है : उसे गठबंधन सरकार भी चलानी है और अपना सांप्रदायिक एजेंडा भी। अपने इस लक्ष्य की साधना में वह कभी रामविलास पासवान को दुत्कार कर मायावती को साथ ले सकती है और कभी करुणानिधि और जयललिता की अदला–बदली कर सकती है। उसे वह सुखराम भी स्वीकार है जिसके भ्रष्टाचार के विरोध में उसने संसद का लगभग पूरा सत्र रोक दिया था और तहलका कांड का 'हीरो' जॉर्ज फर्नांडिज भी। उसके शब्दकोश में नैतिकता और सचाई जैसे पद केवल भ्रम फैलाने के लिए हैं।

गुजरात में चुनावी जीत से उत्साहित संघ संप्रदाय की सक्रियता में खासी तेजी आई है। उसके घटक तरह–तरह से समाज में सांप्रदायिक उन्माद फैलाने में जुट गए हैं। उपरोक्त घोषणाओं के अलावा उत्तर प्रदेश भाजपा के अध्यक्ष ने एक बार फिर कहा है कि अयोध्या में राममंदिर निर्माण भाजपा का एकमात्र लक्ष्य नहीं है; वह काशी और मथुरा में भी मंदिर निर्माण कराएगी। वे मायावती सरकार से छुटकारा पाकर सांप्रदायिकता के सहारे उत्तर प्रदेश में भी चुनाव जीतने की फिराक में हैं। इसीलिए वे कहते फिर रहे हैं कि बाबा साहब अंबेडकर मुसलमानों को भारत से भगाने और बाबर द्वारा तोड़े गए हिंदू मंदिरों के पुनरुद्धार के हिमायती थे। संघ के सरसंघ चालक ने फिर राग अलापा है कि भारत के ईसाई और मुसलमान पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी आईएसआई से मिले हुए हैं। ईसाइयों के एक कार्यक्रम में शामिल होने को लेकर देश के राष्ट्रपति पर भी उन्होंने हमला बोला है। इधर एक और शगूफा उन्होंने छोड़ा है: संघ संप्रदाय के तत्वावधान में सीमावर्ती शहर अमृतसर में वे ऐसे 600 'हिंदू–भक्तों' को मरणोपरांत शौर्य स्मृति चिन्ह प्रदान करेंगे, जिन्होंने विभाजन के दौरान भड़के दंगों में 'मुसलमान गुंडों' से हिंदुओं की रक्षा की थी। यानी गुजरात की तरह अन्य राज्यों में भी पाकिस्तान और मुसलमानों को विपक्ष बना कर हमले बोले जाएँगे।

मध्य प्रदेश में भी संघ संप्रदाय सक्रिय हो उठा है। विश्व हिंदू परिषद, हिंदू जागरण मंच और बजरंग दल ने मध्य प्रदेश के धार जिले में एक ग्यारहवीं शताब्दी की भोजशाला नाम की इमारत को 'मुक्त' कराने का अभियान छेड़ दिया है। इमारत में एक मस्जिद और एक मंदिर बने हैं और वह एक विश्वविद्यालय के काम भी आती रही है। इमारत भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के अधीन है और 1997 के बाद से उसने लोगों को सीमित पूजा की अनुमति दी हुई है। मुसलमान वहाँ केवल शुक्रवार को नमाज पढ़ सकते हैं और हिंदू साल में एक बार बसंत पंचमी को पूजा कर सकते हैं। जैसा कि जगजाहिर है, संघ संप्रदाय के संगठन हिंदू आस्था के मामले में किसी वैधानिक संस्था के नियम–कानून नहीं मानते। भोजशाला मुक्ति अभियान के तहत इन संगठनों ने इंदौर से लेकर धार तक एक रथयात्रा का आयोजन किया है। रथयात्रा पूरा जनवरी जारी रहेगी।

उधर उपप्रधानमंत्री बने लालकृष्ण अडवाणी ने पाकिस्तानी आतंकवाद का शोर मचाया हुआ है। मुद्राराक्षस ने उनके लिए ठीक ही 'राष्ट्रीय दारोगा' शब्द दिया है। आजकल वे हर राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय मंच पर पाकिस्तानी आतंकवाद की गुहार लगाते पाए जाते हैं। वे पिछले

चार सालों से ज्यादा समय से देश के गृहमंत्री हैं। अगर पाकिस्तान जैसा 'रोग' राज्य भारत में लगातार आतंकवाद फैलाने में कामयाब हो रहा है, तो इसकी जवाबदेही गृहमंत्री के नाते उन्हीं पर आयद होती है और उन्हें तत्काल अपने पद से इस्तीफा दे देना चाहिए। लेकिन लगातार और धुँआधार आरोपों की बौछार करने वाले नेताओं के लिए जवाबदेही का कोई अर्थ नहीं है। महीनों तक सीमा पर सेना का जमावड़ा किया गया। रोजाना जनता की गाढ़ी कमाई के करोड़ों रुपये खर्च हुए। इन नेताओं से कोई पूछे, अगर युद्ध जरूरी नहीं था, तो जनता की आर्थिक कमर तोड़ कर सेना का जमावड़ा क्यों किया गया?अगर पाकिस्तान द्वारा चलाया जा रहा अघोषित युद्ध और फैलाया जा रहा आतंकवाद ऐसे ही चलते रहने हैं, तो देश के विकास का पेट काट कर अरबों के हथियारों के सौदे क्यों किए जा रहे हैं? ऐसे या और भी सवाल पूछने पर इन नेताओं का जवाब होता है कि हमें पूर्ण बहुमत दो। और यह बहुमत उन्हें सांप्रदायिक युक्ति से चाहिए। संदेश स्पष्ट है : हम जो सांप्रदायिकता फैला रहे हैं, उसमें बिना किसी नुक्ताचीनी के शामिल हो!

गौर करने की बात है कि इस पूरे माहौल में संघ संप्रदाय के भारतीय मजदूर संगठन और स्वदेशी जागरण मंच जैसे आर्थिक क्षेत्र की लड़ाई लड़ने के लिए बनाए संगठन पूरी तरह चुप हैं। देश की खेती—किसानी तबाह हो रही है और किसान आत्महत्या कर रहे हैं। संघ संप्रदाय का एक किसान संगठन भी है। वह भी कभी आंदोलित नहीं होता। जाहिर है, अंदरखाने वे भी सांप्रदायिक मुहिम में ही जुटे रहते होंगे। कहने को भाजपा यह भी कह रही है कि वह सरकारों के कामकाज, विकास, भ्रष्टाचार, भुखमरी जैसे मुद्दों को उठाएगी। लेकिन साफ है कि उसकी रणनीति चुनाव आते—आते सांप्रदायिकता को ही परवान चढ़ाने की है। (वैश्वीकरण तो परवान चढ़ा हुआ है ही।) उधर मुख्य विपक्षी दल कांग्रेस उसके जवाब में उग्र हिंदुत्व के मुकाबले नरम हिंदुत्व का सहारा ले रहा है। एक वक्त के अंतर्राष्ट्रीयतावादी मार्क्सवादी नेता इसीमें खुश हैं कि वे बंगाल को गुजरात नहीं बनने देंगे। सामाजिक न्यायवादी नेता कुछ तो मौजूदा सरकार में ही शामिल हैं, कुछ किसी तरह अपनी सत्ता बचाने या पाने की जुगत में लगे रहते हैं। फैसला देश की जनता को ही करना है। वैकल्पिक राजनीति करने वाले अगर 'विश्व समाज' में जाने से पहले, यहीं के समाज में जाएँ तो जनता को उससे लाभ और बल मिल सकता है।

सोनिया के सेकुलर सिपाही

धर्मनिरपेक्षता का काम करने वाले हमारे एक बुद्धिजीवी मित्र ने एकबार काफी चिंतित स्वर में हमसे कहा कि कांग्रेस में सोनिया गांधी के अलावा किसी नेता को धर्मनिरपेक्षता की रक्षा की चिंता नहीं है। वे काफी गंभीर थे और इस विषय में कुछ कर डालना चाहते थे। तत्काल कुछ ठोस न भी हो पाए, तो इस बात का प्रचार ही कि अब कांग्रेस में, भाव उनका ऐसा था मानो पूरे देश में, सोनिया जी के अलावा धर्मनिरपेक्षता का रक्षक कोई नहीं है। पीछे की भावना भी स्पष्ट थी – इसके लिए सभी धर्मनिरपेक्षतावादियों को एकजुट होकर सोनिया जी का सम्मान और समर्थन करना चाहिए। (ऐसे बुद्धिजीवियों को ही हम सोनिया के सेकुलर सिपाही कहते हैं। पिछली बार किए गए वादे के मुताबिक हम इस बार उन्हीं की पहचान और भूमिका पर चर्चा कर रहे हैं।)

हमें मित्र की बात सुन कर काफी आश्चर्य हुआ। इसलिए नहीं कि आजादी से पहले और बाद के किसी भी दर्शन, चिंतक, विद्वान, सुधारक, शहीद, नेता, कार्यकर्ता आदि की भूमिका में अंतर्भेदी दृष्टि से आलोचना का नुक्ता निकाल लेने वाले उन सरीखे विद्वान सोनिया गांधी की भूमिका पर, शंका जाहिर करना तो दूर, आलोचनात्मक दृष्टि तक नहीं डालते। बल्कि लेखों, चैनलों व संगोष्ठियों की बहसों में उन्हें कांग्रेस और यूपीए की अध्यक्ष के नाते एकमात्र त्राता के रूप में प्रचारित करते हैं। देश के सामने प्रस्तुत हर समस्या, विशेषकर सांप्रदायिकता की समस्या पर उनकी टेक होती है – 'सोनिया जी हैं ना!' बहस में सामना अगर संघियों से हो, तो बिना प्रसंग के भी वे सोनिया गांधी की महिमा का गान इस कदर बुलंद आवाज में करते हैं कि दस जनपथ तक सुनाई दे। पूजाभाव से गुणगान करने के इस दरबारी चरित्र पर हमने आश्चर्य करना छोड़ दिया है।

सभी जानते हैं धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों से धर्मनिरपेक्षता का काम अर्जुन सिंह कराते हैं। धर्मनिरपेक्षता के प्रति अर्जुन सिंह की लगातार प्रतिबद्धता और गंभीरता को देखते हुए उन्हें पहले की कांग्रेस का अकेला अवशेष कहा जा सकता है। मेरे मित्र भी उन्हीं से यानी मानव संसाधन विकास मंत्रालय से धर्मनिरपेक्षता का काम पाते हैं। हमने इस पर भी आश्चर्य करना छोड़ दिया है कि धर्मनिरपेक्षता का काम अर्जुन सिंह से पाने वाले प्रायः सभी बुद्धिजीवी गुण सोनिया गांधी और मनमोहन सिंह के गाते हैं। अर्जुन सिंह का नाम लेने में उन्हें शायद इसलिए लाज लगती है कि उन जैसे बुद्धिजीवी पर राजनैतिक व्यक्ति से जुड़ने का ठप्पा न लग जाए। सोनिया गांधी और मनमोहन सिंह 'राजनीति से ऊपर' हैं, यह मानते हुए उनका नाम लेने में उन्हें अपना बौद्धिक व्यक्तित्व और साख खोने का डर नहीं लगता।

यह भी सभी जानते हैं कि अर्जुन सिंह द्वारा धर्मनिरपेक्षता की मजबूती के लिए किए जाने वाले काम सोनिया गांधी के सेवकों को नहीं सुहाते। उनकी नजर में अर्जुन सिंह यह सब पार्टी

और राजनीति में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए करते हैं। इसीलिए सोनिया दरबार में अर्जुन सिंह के पर कतरने की कोशिश निरंतर चलती रहती हैं। हालांकि अर्जुन सिंह धर्मनिरपेक्षता की मजूबती के उद्यम में सबसे ज्यादा वामपंथी बुद्धिजीवियों को ही शामिल करते हैं, लेकिन वे अर्जुन सिंह के बचाव में कभी आगे नहीं आते। सांप्रदायिकता के मुद्दे पर बार–बार हस्ताक्षर अभियान चलाने वाले इन विद्वानों ने मनमोहन सिंह की जगह, अर्जुन सिंह को देश का प्रधानमंत्री बनाने के लिए हस्ताक्षर अभियान नहीं चलाया। वे मनमोहन सिंह के बाद सीधे राहुल गांधी पर नजर गड़ाए हैं। कोई यह नहीं कहता, शायद सोचता भी नहीं, कि अर्जुन सिंह भी प्रधानमंत्री पद के एक अच्छे उम्मीदवार हो सकते हैं। एक सेकुलर सिपाही ने एक साल पहले नेहरू खानदान का अटूट गुणगान करते हुए भविष्य की सारी आशाएं राहुल गांधी पर टिका दीं। उन्होंने लिखा : ''जो बात राहुल गांधी के पक्ष में जाती है, वह यह है कि 2007 का भारत युवा लोगों का भारत है। देश की आधी आबादी की उम्र इस समय 25 साल से कम है, और साठ फीसदी से ज्यादा आबादी की उम्र 40 साल से कम है। किसी भी दूसरे दल के पास इस उम्र का वैसा नेता नहीं है।'' ('मुश्किल सफर और ठिठकते कदम' – हिंदुस्तान, 13 जनवरी 2007) ये सेकुलर सिपाही कितने मगन रहते हैं कि उन्हें देश के समस्त युवकों की राहुल गांधी के हक में ठेकेदारी लेने में जरा भी सोचना नहीं पड़ता। जैसे–जैसे आम चुनाव का समय नजदीक आता जा रहा है और मुख्य विपक्षी पार्टी भाजपा समेत अन्य पार्टियां सक्रिय हो रही हैं, सोनिया के सेकुलर सिपाहियों की बेचैनी बढ़ती जा रही है। उनकी चिंता है कि भाजपा बाजी मारे लिए जा रही है और कांग्रेस दुविधा में फंसी है कि राहुल गांधी को प्रधानमंत्री के उम्मीदवार के बतौर उतारे या नहीं। फिलहाल वे भले ही मनमोहन सिंह की जगह राहुल गांधी को उम्मीदवार बनाने में जोखिम मान रहे हों, लेकिन उनके (अगले) स्वाभाविक उम्मीदवार राहुल गांधी ही हैं। धर्मनिरपेक्षता के मुद्दे पर आरएसएस के सामने ताल ठोक कर खड़े रहने वाले अर्जुन सिंह का सेकुलर सिपाही जिक्र तक नहीं करते। (देखें, Election 2009: Congress tortoise and BJP hare - The Hindu, Feb. 25, 2008)

मित्र ने जिन दिनों अपनी चिंता हमारे सामने व्यक्त की थी, तब सोनिया गांधी की हरी झंडी से संजय निरूपम और प्रताप राणे सरीखे सांप्रदायिक और क्षेत्रवादी मानसिकता से ग्रस्त शिव सैनिक दल–बल के साथ कांग्रेस में भर्ती हो चुके थे। सोनिया गांधी का प्रयागराज में गाजे–बाजे के साथ कुंभ–स्नान हो चुका था। हरिद्वार में हुए साधु–संतों के सम्मेलन में हालांकि वे स्वयं शामिल नहीं हुईं, लेकिन यह खबर अच्छी तरह से आ चुकी थी कि सम्मेलन का आयोजन विश्व हिंदू परिषद की काट के लिए सोनिया गांधी के आशीर्वाद से उनके सेवकों ने किया था। देश के और भी बड़े मंदिरों का दौरा वे कर चुकी थीं। गोधरा कांड के बाद का गुजरात विधानसभा का चुनाव काफी पहले हो ही चुका था, जिसमें सोनिया गांधी ने जगजाहिर नरम हिंदुत्व का कार्ड चलाया था। इस बार के चुनाव में भी वही कार्ड दोहराया गया है। युवराज की ताजपोशी के लिए जरूरी यूपी फतह करने के उत्साह में मुलायम सिंह को वे धर्मनिरपेक्षता का

सबसे बड़ा शत्रु घोषित कर चुकी थीं। उसी के समानांतर यूपी के जाति–समूहों के नेताओं से दस जनपथ पर मुलाकातों का दौर चल चुका था। और ब्यौरे न देकर हम बताना चाहेंगे कि शिवसेना के सांप्रदायिक नेताओं के कांग्रेस में प्रवेश पर मुंबई से कांग्रेस के सांसद सुनील दत्त (अब स्वर्गीय) अपनी कड़ी आपत्ति दर्ज करा चुके थे। क्योंकि वे सोनिया के सेकुलर सिपाही न होकर धर्मनिरपेक्षता के सच्चे सिपाही थे, उनकी आपत्ति पर सोनिया गांधी ने कान नहीं दिया। हमें मित्र की चिंता पर आश्चर्य इसीलिए हुआ कि कांग्रेस की मजबूती के लिए धर्मनिरपेक्षता को कमजोर करने वाले उपर्युक्त और अन्य कई निर्णय और काम करने के बावजूद हमारे मित्र सोनिया गांधी को धर्मनिरपेक्षता की एकमात्र रक्षक बता रहे थे। यह बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि कांग्रेस को संगठित और मजबूत बनाने का सोनिया गांधी का कोई राष्ट्रीय उद्देश्य नहीं है। राहुल गांधी, जिन्हें अब सभी अखबार कांग्रेस का युवराज लिखते हैं, को गद्दी पर बैठाना उनका पहला और अंतिम उद्देश्य है। उसके लिए भले ही कांग्रेस के या दूसरी पार्टियों के प्रतिबद्ध धर्मनिरपेक्ष नेताओं को ठिकाने लगाना पड़े और सांप्रदायिक नेताओं को कांग्रेस में शामिल करना पड़े। या कल को मायावती बनना पड़े!

जिन सोनिया गांधी की धर्मनिरपेक्षता में आस्था दृढ़ नहीं है, उन्हीं में धर्मनिरपेक्षता का रक्षक देखने की सेकुलर सिपाहियों की प्रवृत्ति पर सभी धर्मनिरपेक्षतवादियों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। सोनिया के सेकुलर सिपाहियों से अलावा भी देश में धर्मनिरपेक्षतावादियों की बड़ी और विविध संख्या है। सोनिया के सेकुलर सिपाही सांप्रदायिकता के खतरे को सबसे बड़ा दिखाते हैं। सांप्रदायिकता के विरोध में उनकी गतिविधियां इस उद्देश्य से आयोजित व संचालित होती हैं कि आम लोगों को भी सबसे बड़ा खतरा सांप्रदायिकता नजर आए। लेकिन उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण का खतरा उन्हें विशेष परेशान नहीं करता। उनमें से कुछ तो उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के पक्के समर्थक हो गए हैं। इसीलिए उदारीकरण के विरोध संबंधी उनकी गतिविधियों में न तो सांप्रदायिकता विरोध जैसा उत्साह होता है, न उनसे आम लोगों में उदारीकरण के खतरों के प्रति जागरूकता आ पाती है। सोनिया के सेकुलर सिपाहियों में एक विशिष्ट प्रवृत्ति यह देखी जाती है कि वे उन विद्वानों या नेताओं की धर्मनिरपेक्षता को किसी न किसी बहाने कोसते हैं, जो पुराने उपनिवेशवाद और अब के नव–साम्राज्यवाद के धुर विरोधी होते हैं। गांधी से लेकर किशन पटनायक तक की धर्मनिरपेक्षता उनकी आलोचना का शिकार होती है।

ऐसा अकारण नहीं है। ऊपरी कारण तो यही लगता है कि सेकुलर सिपाही धर्मनिरपेक्षता का काम सांप्रदायिकता खत्म करने के लिए नहीं, उससे लड़ने के लिए करते हैं। लड़ाई चलती रहेगी तो काम भी चलता रहेगा! लेकिन मामला उतना सतही भी नहीं मानना चाहिए। उनके पास अपने धर्मनिरपेक्षता के काम का सैद्धांतिक आधार भी रहता होगा – वांछित क्रांति के बाद वांछित व्यवस्था कायम होने पर ही कोई समस्या या समस्त समस्याएं मिटती हैं। उसके पहले संघर्ष और द्वंद्वचलते रहना है। इसीलिए वे धर्म की उदार धाराओं और सर्वधर्म समभाव में भी सांप्रदायिकता की गंध पा लेते हैं और सांप्रदायिकता–विरोध के संघर्ष में लगे रहते हैं।

बहरहाल, हम ऊपरी कारण को ज्यादा नहीं खींचना चाहते। असली कारण पर आते हैं। सोनिया के सेकुलर सिपाही सांप्रदायिकता को सबसे बड़ा खतरा इसलिए प्रचारित करते है, ताकि उसकी आड़ में उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण का बचाव किया जा सके। उनकी दलील होती है कि कांग्रेस जाएगी तो भाजपा आ जाएगी, जो सांप्रदायिक फासीवाद और उदारीकरण दोनों चलाएगी। ऊपरी तौर पर सेकुलर सिपाहियों की यह दलील सही लगती है। लेकिन जाने–अनजाने यह एक कपटपूर्ण दलील है, जिसके चलते न उदारीकरण से निजात पाई जा सकती है, न सांप्रदायिकता से। इसे थोड़ा स्पष्ट करके कहना होगा। कारण जो भी रहे हों और हों, सांप्रदायिकता भारतीय समाज और राजनीति की एक प्रमुख समस्या बनी हुई है। इस समस्या के चलते भारतवासियों को काफी कुछ सहना पड़ा है। देश का विभाजन तक हो चुका है। गांधी की हत्या हो चुकी है और लाखों नागरिक मारे और उजाड़े जा चुके हैं। धार्मिक स्थलों और पर्वों को लेकर दंगे होते रहते हैं। उदारीकरण की नीतियां लागू होने के बाद उन्मुक्त पूंजीवादी शक्तियों के साथ गठजोड़ से सांप्रदायिकता का उभार और तेज और मजबूत हुआ है। पांच सौ साल पुरानी बाबरी मस्जिद का ध्वंस और उसके पहले व बाद में बिगड़ा सामाजिक माहौल इसका साक्ष्य है। केंद्र में भाजपानीत गठबंधन सरकार बन चुकी है। अगले साल आम चुनाव में फिर बन सकती है। अगले नहीं तो उससे अगले में बन सकती है। कई राज्यों में उसकी सरकार है ही। गुजरात में सांप्रदायिक फासीवादी नरेंद्र मोदी तीसरी बार कांग्रेस को बुरी शिकस्त देकर चुनाव जीते हैं। उनकी गिनती करिश्माई नेताओं में हो रही है। यह स्थिति सोनिया के सेकुलर सिपाहियों के सांप्रदायिकता को सबसे बड़ा खतरा प्रचारित कर उसके खिलाफ संघर्ष चलाने के बावजूद है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सेकुलर सिपाहियों को यह सब पता नहीं है। उन्हें यह भी अच्छी तरह पता है कि जब और जहां भाजपा सत्ता में नहीं होती, समाज में सांप्रदायिकता तब भी रहती है। उसकी काट एकमात्र यही है कि राजनीति को सांप्रदायिकता के मोर्चे से हटा कर देश की विशाल वंचित आबादी की रोजी–रोटी से जोड़ दिया जाए। सेकुलर सिपाही कहते हैं कि उन्होंने लोगों की रोजी–रोटी के लिए सोनिया गांधी से ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून बनवा दिया है। वे इस सच्चाई को छिपा ले जाना चाहते हैं कि इस तरह के कानून उदारीकरण की मजबूती की गारंटी हैं। गरीबों की रोजी–रोटी का संघर्ष चलेगा तो उनकी रोजी–रोटी छीनने वाले उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण का मुकम्मल विरोध करना होगा। साथ में मौजूदा अर्थनीति और विकास का विकल्प और उसे लागू करने के लिए देश में वैकल्पिक राजनीति का निर्माण करना होगा। यहां वैकल्पिक अर्थनीति, विकास और राजनीति के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा करने का अवकाश नहीं है। हालांकि अर्थनीति पर इतना कहा जा सकता है कि वह स्वावलंबी होते हुए दुनिया से जुड़ी होगी और कर्ज पर आधारित नहीं होगी। लेकिन सोनिया के सेकुलर सिपाही संघर्ष को जनता की रोजी–रोटी से नहीं जोड़ते। नई अर्थनीतियों और विकास के प्रचलित मॉडल के साथ उनका वर्ग–स्वार्थ तो जुड़ा ही है, वे सैद्धांतिक रूप से भी उसके विरोधी नहीं हैं। यही कारण है कि उदारीकरण की नीतियों का गाहे–बगाहे आधे–अधूरे मन से किया जाने वाला उनका विरोध अंततः खोखला साबित होता

है। पश्चिम बंगाल से सेकुलर सिपाहियों का फरमान आ गया है कि आगे खोखला संघर्ष भी नहीं होने जा रहा है। पूंजीवाद सब ठीक कर देगा!

एक और बात। बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद यूपी में सपा–बसपा गठबंधन ने सांप्रदायिक राजनीति को आसानी से पराजित कर दिया था। वह गठबंधन जल्दी ही टूट गया। सेकुलर सिपाही यदि वाकई धर्मनिरपेक्षता को बचाने का संघर्ष करते होते, तो उस गठबंधन को फिर से कायम करने और मजबूत बनाने की दिशा में अपनी ताकत लगाते। वैसा हो जाए तो देश से सांप्रदायिक राजनीति का खतरा हमेशा के लिए टल जाएगा। लेकिन सेकुलर सिपाही सांप्रदायिकता के विरोध और धर्मनिरपेक्षता की रक्षा के लिए कांग्रेस के साथ ताकत लगाते हैं। गौर करें कि सपा–बसपा जैसे गठबंधन से सांप्रदायिक राजनीति तो हमेशा के लिए परास्त होगी ही, अपने सामाजिक आधार के चलते वैसी राजनीति उदारीकरण के विरोध में भी खड़ी हो सकती है। और सोनिया के सेकुलर सिपाहियों को उदारीकरण विरोधी राजनीति कतई मंजूर नहीं। अंत में कह सकते हैं कि सेकुलर सिपाही सांप्रदायिकता से इसलिए लड़ते हैं ताकि उदारीकरण चलता रहे। उधर कम्युनल सिपाही सांप्रदायिकता इसलिए फैलाते हैं कि उदारीकरण चलता रहे। गौर से देखिए दोनों की शक्लें कितना मिलती हैं!

क्या है उपाय?

यह समय—संवाद लिखे जाने तक मुबंई में आतंकी हमले को एक महीना हो चुका है। आतंकवादी कहां से आए, किस रास्ते से आए, किसकी प्रेरणा से आए, उनकी कुल संख्या कितनी थी, जीवित पकड़ा गया कसाब उसी गिरोह का हिस्सा था या कोई और है, वह कहां का रहने वाला है, आतंकवादियों का मकसद क्या था, जो था वह पूरा हुआ या नहीं – इन सवालों पर जितने मुंह उतनी बातें हो रही हैं। सामान्य जनता में नहीं, राजनैतिक, कूटनीतिक और बौद्धिक हलकों में। केवल भारत और पाकिस्तान में ही नहीं, बाहर के देशों में भी। जबकि यह सूचना क्रांति का दौर है! हम यहां इन सवालों में उलझने नहीं जा रहे हैं। हमें आशा है नेता, कूटनीतिज्ञ और विशेषज्ञ उन्हें सुलझा लेंगे। लोगों को कम से कम तथ्यों के बारे में विश्वसनीय सूचना मिल जाएगी। बल्कि वारदात के अलग—अलग विश्लेषणों की विश्वसनीयता भी तभी बनेगी जब तथ्य सुनिश्चित होंगे।

हमले की चौतरफा निंदा की गई है। मुल्ला—मौलवियों ने इस बार ज्यादा खुल कर हमले की निंदा की है। पूरे देश में हमले में मारे गए लोगों को श्रद्धांजलि देने का सिलसिला अभी भी चल रहा है। नागरिकों ने विशेषकर राजनैतिक नेतृत्व के खिलाफ अपना तीव्र आक्रोश व्यक्त किया है। नेतृत्व को लानत भेजने वाला तबका इस बार हैसियतमंद था, इसलिए नेता मुंह चुराते और माफी मांगते नजर आए। महाराष्ट्र के गृहमंत्री आरआर पाटिल ने थोड़ी हेंकड़ी दिखाने की कोशिश की लेकिन उन्हें और उनके मुख्यमंत्री विलासराव देशमुख को जाना पड़ा। केंद्र में भी एक वस्त्र—पुरुष को हटा कर दूसरे वस्त्र—पुरुष को लाया गया। बीए में पढ़ने वाली मेरी भतीजी वृंदा का कहना था, 'पहले को वस्त्र बदलने से फुरसत नहीं थी, दूसरे को सम्हालने से नहीं रहेगी। हमारा क्या होगा?'

हमले से एक बात स्पष्ट हुई कि भारत के नेता, जो उन्हें वोट देकर जिताते—हराते हैं, उन लोगों से नहीं डरते। वे उन लोगों से डरते हैं जो वोट नहीं देते लेकिन गरीबों का निवाला मार कर संपत्तिशाली बने हुए हैं और ऊंचे पदों व पदवियों के मालिक हैं। जिनके लिए ताज मुंबई का आइकोन और धरोहर है। हमले से यह भी स्पष्ट हुआ कि नेताओं और धनवानों के नेक्सस में, जिसके चलते दोनों देश को खुलेआम लूट रहे हैं, ऐसे मौकों पर जो दरार पड़ती है, उसकी तुरंत मरम्मत कर दी जाती है। तभी यह नेक्सस कायम और जारी रहता है। लगे हाथ लोगों को यह भी पता चल गया कि 'गुजरात का शेर' नरेंद्र मोदी भी भीतर से वैसा ही डरपोक है। कल तक मोदी और उनका संप्रदाय हेमंत करकरे की जान के दुश्मन बने हुए थे। आतंकी हमले में करकरे की हत्या होने पर मोदी एक करोड़ की राशि लेकर उनके घर पहुंच गए। संस्कार पूरे होने देने का इंतजार भी नहीं किया। 'मुंबई के शेरों' का तो पिछले एक महीने से कहीं पता ही नहीं है! केवल बूढ़ा शेर यह कहने निकला कि कसाब पर मुकदमा चलाने की क्या जरूरत है, उसे सीधे फांसी

देनी चाहिए।

हर बार की तरह आतंकी हमले के लिए भारत ने पाकिस्तान को दोषी ठहराया है। हालांकि वरादात की शुरुआत में महाराष्ट्र के एटीएस प्रमुख हेमंत करकरे की हत्या की खबर आते ही कतिपय अति उत्साही सेकुलरवादियों के मन में खुशी की लहर दौड़ गई थी। उन्होंने माना कि हमलावर हिंदू कट्टरपंथी हैं। लेकिन बाद में मामला वैसा नहीं निकला। केंद्रीय मंत्री अब्दुर रहमान अंतुले के संसद में यह सवाल उठाने पर कि 'उन्हें वहां (कामा अस्पताल) किसने भेजा' और 'वे तीनों (हेमंत करकरे, अशोक काम्टे, विजय सालस्कर) एक साथ यात्रा क्यों कर रहे थे', एक तरफ हिंदुत्ववादी सांप्रदायिक ताकतों ने इशारा अपनी तरफ पाकर तीव्र विरोध जताया, दूसरी ओर सेकुलरवादियों को अंतुले के वक्तव्य से अपनी थ्योरी पुष्ट होती नजर आई। अंतुले का बयान आते ही उत्साह में वे इतना ऊंचा निकल गए कि कहने लगे आतंकवादी इजराइली थे और हिंदू सांप्रदायिकों को बचाने के लिए अडवाणी और मनमोहन सिंह की मिलीभगत है, जिसकी जानकारी सोनिया गांधी को नहीं है। उन्होंने हिदायत दे डाली है कि अडवाणी–मनमोहन सिंह–इजराइल–अमेरिका का नेक्सस एक दिन सोनिया गांधी और राहुल गांधी को ले डूब सकता है। सोनिया के सेकुलर सिपाहियों की यही खासियत है कि वे सोनिया गांधी को छोड़ कर बाकी सबको सांप्रदायिक और साम्राज्यवादी षड़यंत्र में शामिल मानते हैं। खैर, यहां हमें सोनिया के सेकुलर सिपाहियों से जिरह नहीं करनी है। मुंबई में हुए आतंकवादी हमले पर हम इस नजरिए से चर्चा करना चाहते हैं कि हमले के बाद जो सारा उद्यम किया जा रहा है, क्या उसके बाद अगली आतंकवादी वारदात नहीं होगी? 26 नवंबर 2008 को हुए मुंबई हमले के पहले भारत में कई छोटे–बड़े आतंकी हमले हो चुके हैं। मुंबई में हुआ हमला भी पहला नहीं है। 2001 में भारत की संसद पर ही आतंकी हमला हो चुका है। यानी आतंकवादी वह सुरक्षा घेरा भी भेद चुके हैं जो देश के नेताओं ने भारी–भरकम खर्च करके अपने लिए बनाया हुआ है। लिहाजा, जो भी उद्यम किया जा रहा है उस पर सभी नागरिकों को, देश और समाज की न सही, अपनी सुरक्षा के लिए गौर करने की जरूरत है।

सरकार राजनैतिक सर्वानुमति बना कर अगली आतंकवादी वारदात रोकने के उद्यम में पूरे जोर–शोर से जुटी है। कानून को संशोधित कर पोटा जैसा सख्त बना दिया गया है। केंद्रीय जांच एजेंसी गठित कर दी है। ये दोनों कानून संसद में पारित हो चुके हैं। कानून बनाने के पहले ही सरकार पाकिस्तान के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र संघ में दस्तक दे चुकी है। इस दिशा में भारत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी तेज प्रयास कर रहा है। इधर यह सब चल रहा है, उधर आतंकवादी अगली वारदात करने की तैयारी करते होंगे। मुंबई हमले से उत्तेजित साहब समाज को हमारा ऐसा कहना बुरा लग सकता है, लेकिन सच्चाई यही है। उन्हें, जो अगले हमले का शिकार नहीं होंगे, मोमबत्तियां तैयार रखनी चाहिए, अगले आतंकी हमले में 'शहीद' होने वाले सुरक्षा कर्मियों और नागरिकों के प्रति अपनी संवेदना एवं श्रद्धांजलि प्रकट करने के लिए। बल्कि आपकी मोमबत्तियों का मोल उस क्रिकेट मैच से ज्यादा नहीं हो सकता जो चेन्नई में भारत और इंग्लैंड के बीच खेला जाने के बाद मुंबई के शहीदों के नाम कर दिया गया। हम कहना यह

चाहते हैं कि जो व्यवस्था आतंकवाद से लड़ने के उपाय करती है, आतंकवाद उसी व्यवस्था का बगल–बच्चा है।

एक छोटे–से उदाहरण से बात समझ में आ जानी चाहिए। आतंकवादियों के हथियार बनाने के अपने कारखाने नहीं हैं। नक्सलियों की तरह वे हथियार लूटते भी नहीं पाए जाते। यह व्यवस्था ही उन्हें हथियार प्रदान करती है। और वह धन भी जिससे वे हथियार खरीदते हैं। कल को आतंकवादियों के निजी कारखाने स्थापित किए जाने की सूचना भी आ सकती है। लेकिन उन्हें यह सुविधा व्यवस्था ही प्रदान करेगी। अक्सर चिंता प्रकट की जाती है कि आतंकवादियों के हाथ कहीं परमाणु हथियार न लग जाएं। या कोई आतंकवादी देश परमाणु हथियार संपन्न न हो जाए। यह कितनी भोली चिंता है, यह बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। हथियार बनते ही इस्तेमाल करने के लिए हैं। वह इस्तेमाल युद्ध में होगा, डकैती में भी और आतंकवादी वारदातों में भी। जो दलाल सरकारों को हथियार दिलवाते हैं, वे आतंकवादियों को भी दिलवाते हैं। आप उन्हें अमर सिंह जैसे 'दल्ले' मत समझ लेना, जो भारत के राजनीतिक गलियारों में आजकल हर पार्टी में मिल जाते हैं। वे बहुत ऊंची हैसियत वाले होते हैं। उनका उठना–बैठना दुनिया चलाने वाले राजनीतिक–आर्थिक शक्तिशालियों के साथ होता है। जिस हैसियत का आतंकवादी समूह, उसके लिए वैसे ही हथियार। आतंकवादी होने के लिए केवल 'परम पवित्र' होना पर्याप्त नहीं है। 'अपवित्रों' का खात्मा करने के लिए हथियारों की क्रय–शक्ति होनी चाहिए। और चाहिए 'पवित्रता' की राह में मर–मिटने का जज्बा!

कुछ मुसलमानों के पास हथियारों की क्रय–शक्ति है। उस क्रय–शक्ति से वे इंसानों को भी हथियार में बदल देते हैं। मुसलमान इस राह पर बदनाम हो चुके हैं। हालांकि व्यवस्था को हथियार बेचने हैं तो उन्हें बौद्ध भी खरीद सकते हैं। दलाई लामा के हटने के बाद तिब्बत का संघर्ष हथियार–बंद हो सकता है। बहुत संभावना है कि चीन की एके 47 राइफलें ही उनके हाथ में आएं। श्रीलंका के तमिल लंबे समय से हथियार खरीद रहे हैं और वहां की सरकार के खिलाफ चला रहे हैं। दोनों तरफ के मारे जाने वाले लोगों की गिनती नहीं है। तमिलों को नाथने में विफल सरकार से हताश होकर श्रीलंका के बौद्ध अगर तमिलों के खिलाफ हथियार उठाने का निर्णय करेंगे तो हथियार खरीदेंगे भी। भारत के हिंदू आतंकवादी भी क्यों पीछे रहेंगे? विहिप के पास धन की कमी नहीं है। होगी भी तो 'टाटा–बिड़ला–अंबानी' पूरी कर सकते हैं। सुकेतु मेहता जैसों के भगवान नरेंद्र मोदी जब करकरे के घर धन देने पहुंच गए तो गुजरात नरसंहार के बाद भी न बुझने वाली उनके कलेजे की आग को ठंडा करने वालों को नहीं देंगे?जर्मनी के नव–नाजी, फ्रांस और इंग्लैंड जैसे सभ्य कहे जाने वाले देशों के एशियाइयों से असंतुष्ट तत्व हथियार चाहेंगे तो उन्हें हथियार मिलेंगे। जब नशा और देह–व्यापार में लगे सरगनाओं को यह व्यवस्था एक से एक उम्दा हथियार उपलब्ध कराती है तो धर्म और देश के नाम पर मर–मिटने वालों के लिए भला क्यों कमी करेगी?

तो वास्तविक और स्थायी हल व्यवस्था को बदलने से हो सकता है। सवाल है कि क्या

हम यह करना चाहते हैं? यह आतंकवाद इसी व्यवस्था की देन है जिसे विभिन्न उपायों से और मजबूत करने की बात की जा रही है। उसमें सब शामिल हैं जो इस व्यवस्था में शामिल हैं। व्यवस्था मजबूत होगी तो आतंकवाद भी होगा। जाहिर है, अगर व्यवस्था नहीं बदली जाती है, और जब तक नागरिक के रूप में आप उसमें शामिल हैं तो वह नहीं बदलेगी, तो मनुष्यता के नाम पर यही कर्मकांड शेष रहेगा – यह व्यवस्था आपको मारेगी भी और क्रिकेट मैच को आपके नाम भी कर देगी, आपको संगीत श्रद्धांजलियां दिलवा देगी। आप अगर ताज में घेर कर मारे जाते हैं तो दोबारा खुलने का अवसर मरणेपरांत आपको समर्पित किया जा सकता है। एक महीने बाद ही ताज के दोबारा खुलने पर टाटा ने कहा है कि इस अवसर को वे वहां मारे गए लोगों की स्मृति को समर्पित करते है। बस इतना ही है इस क्रूर व्यवस्था का हृदय जो केवल पूंजी की लय पर धड़कता है।

हमले के क्षण से लेकर आतंकवाद की चुनौती से निपटने के उपायों पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक, कूटनीतिक, बौद्धिक चर्चाओं और प्रयासों का सघन व तेज दौर जारी है। एडवोकेट, टैक्नाक्रेट, यहां तक कि पेज थ्री की शख्सियतें भी आतंकवाद से निपटने के उपाय सुझा रही हैं। हर कोने से एक ही आवाज आई है और दबाव बनाया गया है – आगे कभी आतंकवादी हमला न हो, इसके लिए तत्काल कड़े से कड़े कदम उठाए जाने चाहिए। ऐसा कहते वक्त समचार वाचकों चेहरे अत्यंत कठोर हो जाते हैं। भारत पाकिस्तान के खिलाफ मामले को लेकर संयुक्त राष्ट्र में गया है। पाकिस्तान पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव बनाने के लिए कई अन्य उपायों का सहारा भी लिया जा रहा है। 120 देशों में मौजूद भारत के राजदूतों और उच्चायुक्तों की एक बैठक दिल्ली में बुलाई है। देश के स्तर पर, जैसा कि ऊपर हमने बताया है, गैर–कानूनी गतिविधि कानून को संशोधित कर पोटा जैसा सख्त बनाया है। काफी पहले से प्रस्तावित केंद्रीय जांच एजेंसी को कानूनी जामा पहना दिया है। ताज और ओबराय होटलों में एनएसजी के जवानों ने आतंकवादियों से भिड़ंत की, इसलिए ज्यादा से ज्यादा एनएसजी के जवान और अन्य पुलिस बल भर्ती करने की बात हो रही है। कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि भर्ती होने वाले जवान कौन होंगे। वे गरीबों के बेटे–बेटियां होंगे। देश पर मर–मिटने के लिए चारों तरफ से उन्हें ही ललकारा जा रहा है। प्राइवेट सुरक्षा गार्डों के रूप में आप उन्हें अपने चारों तरफ दिन–रात देखते हैं। यानी सरकार और कंपनियां चाहेंगी तो आतंकवाद से लड़ कर जान देने वाले युवक–युवतियों की कमी नहीं रहेगी।

जाहिर है, आतंकवाद को रोकने के लिए किए जाने वाले उपायों को लेकर कांग्रेस और उसके सहयोगी दलों और समर्थकों के पास भी भाजपा से अलग कोई नई दृष्टि नहीं है। एक बार फिर यह सिद्ध हो गया है कि भारत के जिस विकास से आतंकवादी जलते हैं, 'दे एन्वी आवर डवलपमेंट' – ऐसा भारत की शासक जमात कहती है, उस विकास में लगी भारत की मुख्यधारा राजनीति को ठहर कर सोचने की फुरसत नहीं है कि भारत और पूरी दुनिया में गहरी जड़ें जमा चुके आतंकवाद से निपटने भर से काम नहीं चलता, उसे पैदा होने से रोकना होगा।

अकेले मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह को छोड़ कर पूरे राजनीतिक प्रतिष्ठान की तरफ से एक भी संवेदनशील और सार्थक वक्तव्य आतंकवाद की पैदाइश रोकने के बारे में नहीं आया है। उन्होंने कम से कम शिक्षा को ऐसा बनाने की सलाह दी है जो कट्टरता की शिक्षा न दे। हाल में एक भाषण में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा है कि आर्थिक मंदी, आतंकवाद और पर्यावरण की समस्याओं पर हमें अपने रास्ते खोजने होंगे। इसका क्या अर्थ है?क्या यह स्वीकारोक्ति है कि अभी तक का रास्ता, जो उन्होंने वित्तमंत्री रहते चुना था, गलत था?या वे उसी रास्ते को, जो साम्राज्यवादी आदेश है, 'अपना' बता कर और मजबूत करना चाहते हैं? वैसे भी किसे नहीं दिखाई नहीं देता कि वे अपना 'नया इंडिया' लेकर अमेरिका की गोद में बैठे हैं। और अमेरिका आतंकवाद से कैसे निपटता है यह सबको पता है।

हमले के बाद रक्षा, सुरक्षा, राजनीतिक, सामाजिक आदि विषयों के विश्लेषकों और विशेषज्ञों की कुछ ज्यादा ही बहार आ गई है। उनके लेखों का सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा। उनमें ज्यादातर पाकिस्तान को सबक सिखाने और सैन्य उपाय करने पर आमादा हैं। उनमें एक मारूफ रजा साहब, जिनके परिचय में बताया गया है कि वे रक्षा विश्लेषक हैं, अपने लेख 'सीरियस बिजनेस ऑफ वार' ('टाइम्स ऑफ इंडिया', 11 दिसंबर 2008) में नेहरू की 'शांति नीति' की कड़ी भर्त्सना करते हुए लिखते हैं कि अगर भारत को महाशक्ति बनना है तो उसे राष्ट्रीय सुरक्षा के मामलों में नागरिक सर्वोच्चता का नेहरू मॉडल त्याग देना चाहिए। जिस तरह 1990 में मनमोहन सिंह के नेतृत्व में टैक्नोक्रेटिक प्रोफेशनल्स के एक ग्रुप ने भारतीय अर्थव्यवस्था को बदल कर रख दिया, उसी तरह इस अंधकार की घड़ी में हमें दो केबिनेट मंत्री चाहिए – रक्षामंत्री और दूसरा एक नए आंतरिक सुरक्षा मंत्रालय का मंत्री, जो यह समझता हो कि अब भारत कौन से सैन्य विकल्प काम में ला सकता है। उन्होंने आरोप जड़ा है कि भारत के नेताओं को सैन्य मामलों का कख नहीं आता। जाहिर है, रजा साहब रक्षा और आंतरिक सुरक्षा मंत्री राजनेताओं में से नहीं चाहेंगे। शायद इस सच्चाई कि नेहरू से लेकर अभी तक के भारतीय नेता रक्षा, सुरक्षा, जांच, आतंकवाद का मुकाबला करने आदि के बारे में भोले भंडारी रहे हैं, मनमोहन सिंह ने इस सबका ठेका अमेरिका को दे दिया है! ठीक भी है। अमेरिका ने जब भारत की आर्थिक–राजनीतिक ठेकेदारी ले ली है तो सामरिक भी ले। अब भारत के सभी अंदर और बाहर के युद्ध अमेरिका लड़ेगा।

मुंबई हमले पर लिखने वाले लगभग सभी विश्लेषकों और विशेषज्ञों ने स्वीकार किया है कि बुश की तरह ओबामा भी भारत को साथ रखेंगे। लेखों में अमेरिका और उसके सैन्य सहयोगियों का भरपूर गुणगान किया गया है। अमेरिका की गुणगाथा और पाकिस्तान की कड़ी भर्त्सना : पाकिस्तान आतंकवाद की पनाहगाह बना हुआ है, पाकिस्तान दुनिया के लिए सबसे बड़ा खतरा है, पाकिस्तान की सेना बुरी है, खुफिया एजेंसी आईएसआई सेना से भी बुरी है, कट्टर इस्लामवाद पाकिस्तान की राष्ट्रीयता का अभिन्न तत्व है, वहां लोकतंत्र नहीं तानाशाही फलती–फूलती है – पाकिस्तान के दुर्गुणों का मानो कोई अंत नहीं है। मान लिया कि पाकिस्तान में सब दुर्गुण हैं परंतु इन महानुभावों में से कोई एक भी यह नहीं कहता कि इसी

पाकिस्तान को अमेरिका ने उसके बनने के समय से पाला–पोसा है। यह बात पाकिस्तानी कट्टरपंथियों को भी समझनी चाहिए जो आज अमेरिका से गहरी घृणा से परिचालित हैं। आज भी वह उसे धन, हथियार, प्रशिक्षण सब कुछ देता है। पाकिस्तान भी उससे पूछे बगैर कोई कदम नहीं उठाता। यहां तक कि उसका आका जब उसी पर बम बरसाता है तो पाकिस्तान की 'बुरी' सेना और आईएसआई कुछ प्रतिरोध नहीं करते।

पाकिस्तान पर भारत समेत सारी दुनिया का आरोप है कि वहां सेना, आईएसआई और खुद सरकारों की मिलीभगत से जेहादी विचारधारा इस कदर स्थान बना चुकी है कि अब कोई भी सरकार, वह चाहे तानाशाही हो या लोकतांत्रिक, जेहादियों को काबू में नहीं कर सकती। इसका उन्हें एक ही रास्ता नजर आता है और वह है बुश का – जेहादियों को उनके ठिकानों पर हमले करके खत्म करना। यही काम अमेरिका भारत से करवाना चाहता है। पाकिस्तान की कट्टरता का बयान करते वक्त विद्वान लोग भारत को साफ बचा जाते हैं। आजादी के दौर से ही यहां कट्टर हिंदूवादियों ने पाकिस्तानियों की तरह अपना एजेंडा चलाया हुआ है। अगर भारत में भी उन्हें राजनैतिक और सैनिक संरक्षण मिलता तो क्या कोई सरकार उन पर काबू पा सकती थी?हिंदू पवित्रता और श्रेष्ठता के उनके 'महान विचार' आप हेडगेवार और गोलवरकर की लिखतों में पढ़ सकते हैं। आजादी के बाद कांग्रेस की धर्मनिरपेक्ष विरासत काम करती थी। लेकिन आज के दौर में पूंजीवादी साम्राज्यवाद की शरण पाकर जिस तरह से हिंदू कट्टरतावादी अपना एजेंडा आगे बढ़ा रहे हैं और हिंसक गतिविधियों में लिप्त हैं, कल क्या उन्हें किसी सरकार द्वारा रोकना संभव होगा?

हमारा कहना है भाजपा और कांग्रेस द्वारा तो कतई नहीं। तब क्या अमेरिका भारत पर भी बमबारी करेगा? 'प्रतिक्रियावादी' थ्योरी – कि मालेगांव, समझौता एक्सप्रैस आदि की घटनाएं आतंकवाद नहीं, इस्लामी आतंकवाद की प्रतिक्रिया है – की थोड़ी तात्कालिक सार्थकता भले हो सकती है, वरना डॉ. रामनोहर लोहिया का 'हिंदू बनाम हिंदू' लेख पढ़ लेना चाहिए, जिसमें हिंदू धर्म में शुरू से उदार और कट्टरतावादी धाराओं की मौजूदगी का उल्लेख है। नोम चोम्स्की कहते हैं अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा आतंकवादी देश है। उसकी सेना, सीआईए, एफबीआई की करतूतें जगजाहिर हैं। लेकिन अमेरिका अच्छा है और पाकिस्तान बुरा। क्यों?आप इन्हें अच्छी तरह पहचान लीजिए। मुक्तिबोध ने इन्हीं के लिए कहा था – 'बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास/किराए के विचारों का उद्भास/वाक् रुदंति'। अब तो ऐसा बुरा समय आया है कि दोनों हाथों से माया लूटने वाले बाबा भी बुद्धिजीवी और कूटनीतिज्ञ बने घूमते हैं। साथ ही ललकार भी देते हैं कि बार–बार मरने से अच्छा है एक बार लड़ कर मर जाना। आपको मालूम है न पूंजी के गुलाम इन बाबाओं की भारत का समस्त खाऊ–पिऊ समाज गुलामी करता है। आगे आपको और कई प्रज्ञा ठाकुर और फरीदाबाद में मौज फरमाने वाला तथाकथित शंकराचार्य आतंकी गतिविधियों में लिप्त मिलेंगे।

उत्तेजना का दौर

कहना न होगा कि इस बार उत्तेजना बहुत ज्यादा है। 2001 में संसद पर हुए हमले से भी ज्यादा। बल्कि मुंबई में जो नागरिक नेताओं को गलिया रहे थे उनके अवचेतन में यह रहा हो सकता है कि संसद पर हुए आतंकी हमले में सभी नेता मार दिए जाते तो आज ताज और ओबराय पर हमला नहीं होता। प्रदर्शनों के अवचेतन का पाठ ध्यान से किया जाए तो यह भी पढ़ा जा सकता है कि तब देश में फौजी शासन होता, चप्पे–चप्पे पर कमांडो सुरक्षा होती। ऊपर अमेरिका नीचे फौजी शासन – आतंकवादी किसी रास्ते मुंबई नहीं पहुंच पाते। ताज और ओबराय तक तो कदापि नहीं। जैसे कुछ मनोशास्त्री पकड़े गए आतंकवादियों का मनोविज्ञान जानने की कोशिश करते हैं, उसी तरह आतंकवाद से प्रभावित और उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने वालों के मनोविज्ञान को पढ़ने की कोशिश की जानी चाहिए। बहरहाल, वह एक अलग विषय है।

हम कह रहे थे कि इस बार उत्तेजना बहुत ज्यादा है। आतंकवादी छत्रपति शिवाजी टर्मिनल पर अपना कारनामा करके और – ऐसा कहने के लिए हमें माफ किया जाए – मालेगांव और समझौता एक्सप्रेस में बम विस्फोटों के अरोपियों और सुरागों की जांच करने वाले हेमंत करकरे, अशोक काम्ते और विजय सालसकर की हत्या करके चाहे बच कर निकल जाते, साहब समाज कतई उत्तेजित नहीं होता। लेकिन इस बार के आतंकवादी फिदायीन निकले। वे ताज और ओबेराय में घुस गए और 26 विदेशियों समेत कई साहबों को मार दिया। सोने की लंका में आग लगने पर रावण किस कदर उत्तेजित हो उठा था! (राजेंद्र यादव फरमा ही चुके हैं कि लंका में आग लगाने वाला हनुमान पहला आतंकवादी था!) साहब समाज की उत्तेजना की आंच पर राजनीतिक नेतृत्व भी इस बार खासा उत्तेजित हो उठा है। बार–बार पाकिस्तान को ललकार रहा है। हमले तक कि खबरें उड़ चुकी हैं। अमेरिका ने पाकिस्तान को कह दिया है मुंबई की वारदात साधरण नहीं है। रिपब्लिकन पार्टी के परास्त उम्मीदवार जॉन मैक्केन ने धमकी दे डाली कि भारत को पाकिस्तान स्थित आतंकवादी प्रशिक्षण शिविरों पर हवाई हमले करने का अधिकार है। रूस, ब्रिटेन फ्रांस समेत अन्य कई देशों के नेताओं ने भारत की उत्तेजना को बढ़ाया है। अपने नागरिकों के मारे जाने पर वे खुद भी उत्तेजित हैं।

पता नहीं सबसे पहले किसने कहा लेकिन यह जुमला चल पड़ा है कि 26/11 भारत का 9/11 है। 9/11 के बाद बुश ने यह कहते हुए कि वे यानी आतंकवादी हमारी समृद्धिश्और लोकतंत्रा से जलते हैं, पहले अफगानिस्तान और फिर इराक पर तबाही बरपाने वाला 'आतंक के खिलाफ युद्ध' छेड़ दिया था। आश्चर्य नहीं होगा कि बुश की इसी 'लाइन' को पकड़ कर अभी नहीं तो आम चुनाव से पहले पाकिस्तान के खिलाफ युद्ध या युद्ध जैसा कुछ कारनामा कर दिया जाए। बल्कि दोनों तरफ युद्ध के बादल मंडराने लगे हैं। कांग्रेस के रणनीतिकारों को शायद लग गया है कि भाजपा से ज्यादा उग्र राष्ट्रवादी हिस्टीरिया पैदा करके उसे चुनाव में पछाड़ा जा सकता है। 'विकास' ने दिल्ली तीसरी बार भले ही फतह करा दी हो, 'दिल्ली फतह

तो देश फतह' का मनमोदक खाने के बावजूद, कांग्रेसियों को डर सताता होगा कि 20 रुपया रोज से कम पर गुजारा करने वाले लोग यूपीए को राजग बना सकते हैं। इसलिए उत्तेजना को बढ़ाते जाना है। मनमोहन सिंह, सोनिया गांधी और प्रणव मुखर्जी इस वक्त उत्तेजना की लहरों पर सवार हैं। प्रणव मुखर्जी कुछ ज्यादा ही। मनमोहन सिंह की गद्दी पर झपट्टा मारने को आतुर! पाकिस्तान को (वाक्) युद्ध में पीट कर, इस बार अमेरिका की सहायता से, नई दुर्गा बनी सोनिया गांधी की भरपूर कोशिश होगी कि युवराज की ताजपोशी इसी बार हो जाए। सोनिया के सेवकों की तो यह दिली तमन्ना होगी ही। लेकिन सोनिया के सेकुलर सिपाही फिलहाल हिचकिचाएंगे और 'विकास विरोधी तत्व' गरीबी, बेरोजगारी, बदहाली, आत्महत्या, मंहगाई, अपराध आदि की बेहदी का हल्ला मचाएंगे तो उन्हें शांत करने के लिए हो सकता है प्रणव मुखर्जी को आगे कर मनमोहन सिंह की छुट्टी कर दी जाए। चिदंबरम को पहले ही गृहमंत्री बनाया जा चुका है। 'ये ही दो असली जिम्मेदार हैं। लो इन्हें हटा दिया। और क्या चाहिए?' सेकुलर सिपाही मान जाएंगे। जनता से सब कुछ भूल कर कांग्रेस को वोट देने के लिए कहेंगे। दिल्ली में शीला दीक्षित को भजते हैं, केंद्र में सोनिया जी को भजने का सेकुलर अनुष्ठान जारी रहेगा। वरना आप बताएं सांप्रदायिक फासीवादी ताकतों को कौन रोक सकता है? हम कह चुके हैं कि सोनिया के सेकुलर सिपाही सांप्रदायिकता की आड़ में वास्तव में वैश्वीकरण के पक्षधर और उसके विकल्प की विचारधारा और राजनीति के विरोधी हैं। कठमुल्लापन की हद तक उनका मानना है कि दुनिया में पूंजीवाद और मार्क्सवाद के बाद और अलग न कुछ हुआ है, न हो सकता है।

उत्तेजना के कारण स्पष्ट हैं। हमला मुंबई के दो बड़े होटलों – ताज और ओबराय – पर भी हुआ। यानी आतंकवादियों ने इस बार भारत के पेट पर लात मारने के साथ, नाक पर भी घूंसे बरसा दिए। अगर छत्रपति शिवाजी टर्मिनस पर कई गुना ज्यादा लाशें आतंकवादी बिछा देते तो साहब समाज, सरकार, मीडिया और अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी वैसी उत्तेजना और सक्रियता नहीं दिखाते। लेकिन उन होटलों में, जिनका गुणगान पूरे हादसे के दौरान किया गया और अब ताज के फिर से खुलने पर किया जा रहा है, बड़े लोग जाते हैं। बड़े विदेशी भी वहीं आकर ठहरते हैं। बड़ों के मरने के मायने अलग होते हैं। आतंकवादी वारदात में उनमें से कोई कभी मारा जाता है तो उसकी भरपूर कीमत वसूली जाती है। छत्रपति शिवाजी टर्मिनस पर मारे गए लोगों की लाशें उनके परिजनों तक इसलिए नहीं पहुंच पाईं कि कोई उनकी शिनाख्त करने वाला नहीं था। जिनकी शिनाख्त हो पाई उनके पास लाश ले जाने में होने वाला खर्च नहीं था। ताज खुल गया है। ओबराय भी खुलेगा। लेकिन पिछले महीने और उसके पहले की आतंकी वारदातों में मारे गए बिना हैसियत वाले लोगों के परिजन वहां नहीं जाएंगे। बड़े अफसरों की बात अलग है, पुलिस या अन्य बलों के जो सिपाही मारे गए हैं, उनके बंधु–बांधवों की भी वैसी किस्मत नहीं होगी। यह सब 'डिस्पोजेबल' आबादी है, जिसे 'नए इंडिया' के निर्माण में मर–खपना है।

'कांग्रेस ने कुर्बानी दी है। हमने अपने नेता खोए हैं।' चुनावी सभाओं और प्रैस वार्ताओं में

सोनिया गांधी और राहुल गांधी को आप अक्सर कहते सुन सकते हैं। पंजाब के आतंकवाद की समस्या के चलते श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या उन्हींके सुरक्षा गार्डों ने कर दी थी। बदले में उनके बेटे को देश का राज मिल गया। राजीव गांधी की हत्या श्रीलंका के आतंकवाद की समस्या के चलते हो गई। बदले में उनका परिवार रातों–रात बैठे ठाले देश का नेता बन गया। हम कहना यह चाहते हैं कि बड़े लोगों के मारे जाने पर बड़ी उत्तेजना पैदा होती है। 'जब कोई बड़ा पेड़ गिरता है तो धरती हिलती है'। आतंकवाद चलता है तो समस्त सरकारी सुरक्षा के बावजूद कभी नेता भी चपेट में आ जाते हैं। अब निजी सुरक्षा व्यवस्था का दौर चल चुका है। उसके रहते भी नेता मारे जा सकते हैं। लेकिन उसका तत्काल फायदा नेता की पार्टी और परिवार को मिलता है। और छोटे लोगों को महज मुआवजा! वह भी किसी को मिला किसी को नहीं मिला। फर्ज कीजिए कल को किसी मोदी को कुछ हो जाता है। बुश पर जूता चल सकता है तो मोदी क्या चीज है?तब जो उत्तेजना और तबाही होगी उसके बारे में जरा सोच लीजिए। और फर्ज कीजिए बुश पर चला जूता गोली होती? तब मुसलमानों का क्या हाल होता?वह भी बराक हुसैन ओबामा के हाथों?माना पाकिस्तान बुरा और गैर–जिम्मेदार है, लेकिन आप?क्या पूंजीवादी साम्राज्यवाद से नाभिनाल संबद्ध होने की 'योग्यता' से ही आप – दक्षिण और वाम दोनों – अच्छे और जिम्मेदार हो जाते हैं?

उत्तेजना का एक कारण यह भी है कि आतंकवादियों का इस बार का अंदाज काफी दुस्साहस भरा और नाटकीय था। 21 से 25 साल की उम्र के बीच के 10 आतंकी नौकाओं पर सवार होकर समुद्री रास्ते से आए, पूरे असलाह के साथ सारा दिन शहर में मौजूद रहे, एक साथ कई जगह वारदात की, पहले ही हल्ले में एटीएस चीफ करकरे सहित कई जांबाज पुलिस अधिकारियों को खत्म कर दिया और फिर दो होटलों और नारीमन हाउस में मोर्चा जमा लिया जो तीन तक चला। कुछ देर बाद ही यह खबर आ गई कि आतंकवादी कराची से आए थे। सभी टीवी चैनल वहां थे ही। उत्तेजना के लिए और क्या चाहिए?

इधर इस कदर उत्तेजना हो और पाकिस्तान शांत बना रहे, ऐसा नहीं हो सकता। फिर भारत–पाकिस्तान ही क्या हुआ?बताते हैं वहां का राजनैतिक नेतृत्व, सेना प्रतिष्ठान और मीडिया शुरू में कुछ शमित रहा। हमले की निंदा हुई और कहा गया कि पाकिस्तान भी आतंकवाद का शिकार है। वहां के राष्ट्रपति ने आईएसआई प्रमुख को भारत भेजने की घोषणा की। लेकिन जैसे–जैसे पाकिस्तान के आतंकवादी होने की 'पोल' भारत का नेतृत्व और मीडिया खोलने लगा, वहां भी मुसलमानों पर किए जाने वाले हिंदू अत्याचारों की गाथा का बखान शुरू हो गया। भारत के भड़काऊ चैनलों के जवाब में वहां भी कुछ चैनलों ने बाबरी मस्जिद के ध्वंस, गुजरात में मुसलमानों के कत्लेआम आदि के फुटेज दिखाना शुरू कर दिया। सरकार जिन्हें 'नोन स्टेट एक्टर्स' बता कर पिंड छुड़ाना चाह रही थी, ऐसे माहौल में जनता में उनके प्रति सहानुभूति बनी होगी। युद्ध जैसे हालात बनते देख पाकिस्तान ने पश्चिमी सीमा पर अफगानिस्तान में अमेरिका के आतंक के खिलाफ युद्ध के तहत तैनात अपनी सेना को पूर्वी सीमा की ओर रवाना करने का इरादा जाहिर किया। वायुसेना के विमानों ने सीमाई इलाके के

शहरों पर उड़ानें भरीं। कट्टरपंथी तत्वों ने एक सम्मेलन करके पाकिस्तान के हितों की रक्षा की घोषणा की।

खबर है कि पाकिस्तान की सरकार के कट्टर विरोधी तालिबान समर्थकों ने कहा है कि युद्ध होने की स्थिति में उनके लड़ाके सेना का पूरा साथ देंगे। उन्होंने यह भी कहा बताते हैं कि 500 मानव बम भारत में तबाही मचाने के लिए घुसा दिए जाएंगे। पाकिस्तानी सेना के अधिकारियों ने कहा है कि उनकी सहायता स्वीकार की जाएगी। जबकि उनमें से एक पर बेनजीर भुट्टो की हत्या कराने का आरोप है। पहले कसाब को पाकिस्तान का रहने वाला बता कर सरकार को परेशानी में डालने वाले पूर्व प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने देश की रक्षा में उत्तेजनापूर्ण भाषण देने शुरू कर दिए हैं। भारत और अंतराष्ट्रीय दबाव में लश्करे तैयबा और जैशे मोहम्मद जैसे कट्टरपंथी संगठनों के नेताओं की गिरफ्तारी और जांच का पुष्ट–अपुष्ट सिलसिला पाकिस्तान में चल ही रहा था कि अंततः चुने हुए प्रतिनिधियों ने पाकिस्तान की राष्ट्रीय असेंबली में सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास करके भारत से उनके देश के खिलाफ 'होस्टाइल प्रोपेगंडा' बंद करने को कहा है। साथ ही उसने नया आरोप लगाया है कि भारत अपनी सीमा में सक्रिय 'टेरर नेटवर्क' को बंद करे, जिसकी वजह से इस क्षेत्र में अस्थिरता पैदा हो रही है। जवाब में उसने लाहौर बम विस्पफोट के आरोप में एक भारतीय सतीश आनंद शुक्ला/शर्मा को पकड़ने का दावा किया है और उसकी स्वीकारोक्ति के हवाले से विश्व समुदाय को यह बताया है कि उसके साथ कई अन्य भारतीय पाकिस्तान में अस्थिरता फैलाने का काम कर रहे हैं। भारत का हमलावर रुख देख कर उसने भी अपनी रक्षा में कमर कस ली है। देखिए क्या होता है?यानी अमेरिका क्या करता है? संसद पर हमले के वक्त भी दोनों देशों की सेनाएं एक साल तक अमेरिकी आदेश के इंतजार में सीमा पर डटी रही थीं।

मानवता के खिलाफ युद्ध

आतंकवादी वारदात के बाद हर बार यही होता है : उत्तेजना होती है, बहस होती है, मृतकों को श्रद्धांजलि दी जाती है, कड़े से कड़े उपाय किए जाते हैं, राष्ट्रीय–अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के वादे और संधियां होती हैं, आतंकवादी कहे जाने वाले संगठनों पर प्रतिबंध लगाया जाता है, उनके खाते सील किए जाते हैं, फंडिंग बंद करने मांग की जाती है आदि–आदि। अमेरिका की ओर से तो एक ही वारदात होने पर 'आतंकवाद के खिलाफ युद्ध' छेड़ दिया जाता है। लेकिन दुनिया के किसी हिस्से में अचानक फिर आतंकी आघात होता है। आतंकवाद को नेस्तनाबूद कर जनता में विश्वास कायम करने और सुरक्षा बलों का मनोबल को ऊंचा रखने का वास्ता देकर किए गए समस्त कड़े उपाय धरे रह जाते हैं। अलबत्ता उन उपायों को प्रभावी बनाने की कवायद में कितने ही निर्दोष नागरिक उत्पीड़न सहते हैं और कितने ही जान से जाते हैं। दुनिया के कुछ इलाकों में सामान्य नागरिक जीवन एक लंबा दुःस्वप्न बन जाता है। वहां कुछ भी सहज और स्वाभाविक नहीं रहता। बच्चों की दुनिया भी नहीं।

यह कोई ढकी–दबी सच्चाई नहीं है। रोज का ही किस्सा बन चुका है। भारत के पड़ोसी

अफगानिस्तान का उदाहरण ले लीजिए। उस अभागे देश में, जो पहले सोवियत और फिर तालिबानी वर्चस्व तले जर्जर हो चुका था, 9/11 के बाद से ही 'आतंक के खिलाफ युद्ध' का खुला मैदान बना हुआ है। वहां बच्चों, महिलाओं, वृद्धों समेत जितने निर्दोष लोग अमेरिकी और उसके सहायक देशों की सेनाओं ने मारे हैं, उतने तालिबानों ने भी नहीं। इस युद्ध में मारे जाने वाले तालिबानों की संख्या तो निर्दोष नागरिकों की तुलना में नगण्य कही ही जाएगी। यह एक उदाहरण है। पूरे विश्व के स्तर पर आतंक के खिलाफ बजी रणभेरी में निर्दोषों का चीत्कार युद्ध चलाने वाले शासक सुनने को तैयार नहीं हैं। आतंकवाद का खात्मा करने को उठे हाथ और हथियार दरअसल मानवता का खात्मा करने में लगे हैं। मानवता के खिलाफ यह दोतरफा युद्ध है : मनुष्य को खत्म करना और मनुष्यता को खत्म करना।

उपनिवेशवादी दौर में अंग्रेज और उनके साथ फ्रांस, स्पेन, हालैंड, यहां तक कि पुर्तगाल जैसे देश 'श्वेत होने का भार' उठाते थे। इन्हीं देशों के नागरिकों ने काफी पहले उत्तरी अमेरिका खोज निकाला था। अब पता चला है कि मूल निवासियों की हड्डियों पर 'महान अमेरिका' इसलिए बसाया गया था कि आज के दौर का भार उठाया जा सके। हम बाकी रंगों के 'असभ्य' समाजों को सभ्य बनाने के 'व्हाइट मैंस बर्डन' की बात कर रहे हैं। आपने देखा कि अमेरिका ने हमले के तुरंत बाद घोषणा कर दी थी कि 'वह भारत का सहयोग करने, सहायता प्रदान करने और जांच प्रक्रिया में शामिल होने के लिए कर्तव्यबद्ध है।' राजदूत मुल्फोर्ड, राष्ट्रपति जॉर्ज बुश, विदेश सचिव कोंडालीसा राइस, नए राष्ट्रपति ओबामा, राष्ट्रपति पद के रिपब्लिकन उम्मीदवार रहे जॉन मैक्केन और प्रशांत कमान के प्रमुख टिमोथी कीटिंग आदि के बयान आप पढ़ें तो पता चल जाएगा कि अमेरिका ने आतंक के खिलाफ युद्ध में भारत को अपना सहयोगी मान लिया है। यानी अब आतंक के खिलाफ युद्ध का दायरा इराक और अफगानिस्तान तक सीमित न रह कर भारत तक फैल गया है।

पश्चिम एशिया की प्रैस के एक हिस्से ने तो मुंबई हमले को अमेरिका और उसके कुछ सहयोगियों का षड़यंत्र बताया है, जिसके पीछे उसका उद्देश्य पश्चिम एशिया और दक्षिण एशिया में एक नया भू–राजनैतिक संतुलन बनाना है। जो भी हो, लगता यही है कि भारत अमेरिका का पाकिस्तान बन चुका है। यानी कल को भारत ने अफगानिस्तान या दक्षिण एशिया में ओबामा की योजना के मुताबिक भूमिका नहीं निभाई तो अमेरिका भारत की सीमा में घुस कर हवाई हमले कर सकता है।

अमेरिका अपने द्वारा पोषित पाकिस्तान को अब भारत से दबवाना चाहता है। उसे मालूम है कि पाकिस्तान के आतंकी गुटों का रुख अगर भारत की तरफ नहीं मोड़ा गया तो उसे एक और 9/11 झेलना पड़ सकता है। वह भारत को फिलिस्तीन और ईरान से विमुख कर ही चुका है। भारत का साहब समाज जो कह रहा है कि भारत में या तो सैन्य शासन हो या फिर हर राज्य किसी एक कारपोरेट के हवाले कर दिया जाए, अमेरिकी डिजाइन की संगति में है। अमेरिका जब साठ साल तक पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही का भरण–पोषण कर सकता है तो भारत में क्यों नहीं करेगा?पाकिस्तान पर तो उसे धन खर्च करना पड़ता है। 9/11 के बाद आतंक के

खिलाफ युद्ध के लिए दिए गए अकूत धन को पाकिस्तानियों द्वारा खा जाने की शिकायत अमेरिका बार–बार कर रहा है। भारत में बड़ा बाजार है, जहां माल भी बिकता है और हथियार भी। मुंबई हमले के समय मीडिया और साहब समाज द्वारा माहौल ऐसा बना दिया गया था मानो भारत की राजनीति और सुरक्षा व्यवस्था पूरी तरह फेल हो चुकी है। लिहाजा, अमेरिका और उसके सहयोगियों को सारा मामला अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

मुंबई हमले के बाद इंटरपोल सहित कई देशों की सुरक्षा और खुफिया एजेंसियां अपनी सेवाएं देने के लिए कह चुकी हैं या भारत आ चुकी हैं। आजकल कौन आ रहा, कौन से उपकरण लेकर आ रहा है – किसी पर कोई रोक–टोक नहीं है। विदेशी नेताओं की तरह इंटेलिजेंस विभागों की टीमें भी भारत में घुसी आ रही हैं। इस गहमा–गहमी में थोड़ा ठहर कर सोचें क्या उन देशों में आतंकी हमला होने पर भारत के नेता और अफसर भी उसी तरह जा सकते हैं?वहां जाकर धड़ाधड़ अपने आदेश जारी कर सकते हैं? आपको अमेरिका में सुरक्षा अधिकारियों द्वारा भारत के रक्षा और गृहमंत्री के कपड़े उतरवाने का नजारा याद है?एक सवाल और पूछा जाना चाहिए। ऐसा क्यों होता है कि भारत के संकट में एशिया का कोई नेता या अफसर नहीं आता, न अफ्रीका का, न लैटिन अमेरिका का?क्या अमेरिका और यूरोप का नाम ही वैश्वीकरण है? जी हां, ऐसा ही है। वैश्वीकरण को चलाने वाली संस्थाएं अमेरिका–यूरोप की ही हैं।

पिछले दिनों आईएसआई के पूर्व प्रमुख लैफ्टिनेंट जनरल हामिद गुल का एक बयान आया था। उस पर ध्यान नहीं दिया गया। उन्होंने कहा था कि भारत और पाकिस्तान के लिए पहले इग्लैंड ने समस्याएं पैदा कीं और अब अमेरिका कर रहा है। हामिद गुल पर आजकल अमेरिका का प्रकोप है। उनसे ज्यादा कौन जानेगा कि अमेरिकी प्रकोप के क्या अंजाम होते हैं। हाल में पूर्व राष्ट्रपति जनरल मुशर्रफ ने सीमा–विवाद को लेकर कहा कि वह अंग्रेजों की देन है। अगर इन दो फौजी अफसरों को सचमुच यह समझ में आ गया है तो इसी समझ से भारतीय उपमहाद्वीप और पूरे एशिया में शांतिपूर्ण और न्यायपूर्ण व्यवस्था की तरफ बढ़ा जा सकता है। अगर भारत, पाकिस्तान और बंगला देश के लोगों को कुर्बानियां ही देनी हैं तो इस रास्ते पर दें। बल्कि वह रास्ता कुर्बानियों भरा ही होगा। अमेरिका और उसके सहयोगी यहां की संस्कृति और संसाधनों पर अपना कब्जा आसानी से नहीं छोड़ेंगे।

मुलायम–कल्याण की दोस्ती

जब कल्याण सिंह अटलबिहारी वाजपेयी को खरी–खोटी सुनाते हुए भाजपा से बाहर आए थे, हमने तब भी कहा था कि पिछड़ा कितना भी उग्र स्वयंसेवक बन जाए, बल्कि उन्हें ऐसा बनाया जाता है, और संघी हिंदुत्व के उत्थान में कितना भी बड़ा कारनामा कर गुजरे, ब्राह्मण का चाकर ही रहता है। कल्याण सिंह समझते थे कि बाबरी मस्जिद ढहाने जैसा पराक्रम करने के बाद संघ में उनका डंका बजने लगेगा और वाजपेयी समेत सारे हवा–हवाई नेता उनका रुआब व रुतबा मानेंगे। आरएसएस ने यह भ्रम बनाया हुआ था कि मस्जिद अनियंत्रित कारसेवकों की भीड़ ने अचानक तोड़ दी। मुलायम सिंह और कल्याण सिंह की दोस्ती के बाद आरएसएस का बयान आया है कि मस्जिद कल्याण सिंह के आदेश पर गिराई गई थी। हालांकि आरएसएस का बयान आने से पहले भी मस्जिद तोड़ने का श्रेय कल्याण सिंह को ही जाता रहा है और वे लेते भी रहे हैं। मुसलमानों की फेहरिस्त में बाबरी मस्जिद ध्वंस के कई गुनाहगार हैं, लेकिन कल्याण सिंह का नाम उनमें सबसे ऊपर है।

मुलायम सिंह और कल्याण सिंह के बीच हुए चुनावी समझौते में ज्यादा चर्चा मुलायम सिंह को लेकर हो रही है। संघ की चोट खाए कल्याण सिंह पर ध्यान नहीं दिया जा रहा। एक तरफ उनकी मित्र और दूसरी तरफ उनका बेटा उन्हें दांचते हैं कि संघ की सेवा का प्रतिफल कहां है? बाप–बेटे ने मस्जिद गिराने के बाद कायम होने वाले 'हिंदू–राज' में सत्ता–सुख भोगने के क्या–क्या ख्वाब देखे होंगे?मंदिर आंदोलन, जिसे गोविंदाचार्य से लेकर अडवाणी तक सारे संघी आजादी के बाद का सबसे बड़ा जनांदोलन बताते हैं, को परिणति तक पहुचाने वाले कल्याण सिंह और उनके परिजन संघ के विधान में एक दिन सबसे ऊंचा स्थान पाने की हसरत पालें तो गलत नहीं कहा जा सकता। लेकिन हुआ उल्टा – राष्ट्रीय स्तर पर तो राष्ट्रीय नेता ही छाए रहे, कल्याण सिंह को 1999 में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद से भी बेआबरू होकर हटना पड़ा। राष्ट्रीय क्रांति दल बनाया तो हिंदुत्व के इस ध्वजाधारी को उत्तर प्रदेश में अपनी जाति के अलावा किसी ने घास नहीं डाली। पिछड़े के हिंदुत्व की क्या हैसियत होती है, तब उन्हें पता चला होगा।

आरएसएस पर शोध और कोप करने वाले विद्वान और नेता सभी स्वयंसेवकों को एक ही लाठी से हांकते हैं। ज्यादा से ज्यादा उनमें कट्टर और उदार का बनावटी भेद कर लेते हैं। जबकि वर्ण, जाति, लिंग और स्थान व काल के विविध आधारों पर उनका अध्ययन किया जा सकता है। ऐसा अध्ययन अभी नहीं हुआ है जिसमें शूद्र जातियों के स्वयंसेवकों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया हो। या तो कोई शूद्र स्वयंसेवक ईमानदारी से अपने अनुभव लिखे या कोई विद्वान इसका गंभीर अध्ययन करे कि ब्राह्मणवादी विचारधारा से पोषित और परिचालित आरएसएस की शाखाओं और अन्य गतिविधियों के

दौरान वर्णव्यवस्था के पायदान पर रखी गईं शूद्र जातियों के मन में क्या चलता है?किस रूप में वे अपने को संघ का सेवक मानते और सिद्ध करते हैं? अपने शूद्र होने की हीनता–ग्रंथि से कैसे उबरते हैं?क्या वे ब्राह्मणों जैसा हिंदुत्ववादी बनने की दमित–इच्छा से परिचालित होते हैं?क्या उनकी शूद्रत्व की ग्रंथि में 'गुरुजन' ब्राह्मणत्व भरने की कोशिश करते हैं?(जैसे शाखाओं में वैश्यों और ब्राह्मणों में क्षत्रियत्व भरा जाता है।) यह विषय काफी जटिल है और लंबे समय की मांग करता है। यहां हम इतना ही कहते हैं कि यह हो सकता है कल्याण सिंह के मन में यह दमित–इच्छा पलती रही हो कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों को पीछे छोड़ कर, यानी वर्णव्यवस्था के बंधनों को तोड़ कर, एक दिन हिंदुत्व के आकाश का सितारा बनेंगे। और बाबरी मस्जिद का ध्वंस करके उन्होंने अपनी वह जीवनेच्छा पूरी की हो?

ब्राह्मण बनने की होड़ में लगा दलित और पिछड़ा दिमाग यहीं मार खा जाता है। वह ब्राह्मण की नकल कर सकता है, बन नहीं सकता। हिंदुत्व के आकाश का सितारा बनने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। शूद्र शूद्रत्व में ही स्थित रहेगा, इसीलिए आरएसएस की स्थापना की गई थी। शूद्रों से आरएसएस का पुराना बैर है जिसे वह उन्हें आपस में लड़ा कर निकालता है। आरएसएस का गठन करने वालों का गुस्सा बाहर से आए मुसलमानों पर उतना नहीं है, जितना हिंदू धर्म से इस्लाम में जाने वालों पर है। वे जानते हैं कि भारत में ज्यादातर शूद्र मुसलमान बने हैं। उन्होंने हिंदू–राष्ट्र के साथ गद्दारी की है। उन्हें दंड मिलना चाहिए। आरएसएस मुसलमानों को पाकिस्तान नहीं देकर अरब इलाके में भेजना चाहता था। अंग्रेजों पर भी आरएसएस के गुरुओं का गुस्सा नहीं है। बल्कि उनके वे प्रशंसक हैं। उनका गुस्सा धर्मांतरण कर ईसाई बनने वालों पर हैं जो ज्यादातर दलित और आदिवासी हैं। आरएसएस इन्हें भी हिंदू–राष्ट्र के गद्दार चिन्हित करता है और उन पर कहर बरपाता है। जबकि अगड़ी सवर्ण जातियों के मुसलमान या ईसाई संघ के कोप से अक्सर बचे रहते हैं।

हम यह नहीं कहते कि पिछड़े स्वाभाविक संघी नहीं हो सकते। उन्हें स्वाभाविक संघी बनाने में ही संघ की सिद्धि है। हम तो कहते हैं और आप देख सकते हैं, आदिवासी और दलित तक स्वाभाविक संघी हो सकते हैं। हमारा कहना इतना भर है कि उनकी जगह ब्राह्मणों की ठोकरों में ही रहती है। इसके बावजूद कि कल दिखावे के लिए यानी रणनीति के तहत किसी पिछड़े को सरसंघचालक बना दिया जाए। और परसों किसी दलित या आदिवासी को। यह चर्चा हमने इसलिए की कि मुलायम सिंह और कल्याण सिंह के मिलन में पिछड़ा कारक पड़ताल करने लायक है। चुनावी अर्थ में नहीं, वह तो सबके सामने है और सब जानते हैं। अभी तक यह रहा है कि पिछड़ा नेता जब किसी पिछड़े या दलित नेता से खतरा महसूस करता है तो कांग्रेस या भाजपा की शरण में भागता है। ऐसा पहली बार हुआ है कि एक पिछड़ा नेता भाजपा से निकल कर एक पिछड़े नेता की शरण में आया है। और घर–घराना सहित आया है। इससे आप यह न समझ लें कि अब वह संघी नहीं रहेगा। हुआ बस इतना है कि उसकी जाति ने उसे आइना दिखा दिया है। उमा भारती तो पिछड़ी होने के अलावा औरत भी है। हालांकि कल्याण सिंह से ज्यादा उग्र है, लेकिन संघ के वर्णाश्रम धर्म के लौह–शिकंजे को तोड़ नहीं पातीं। बस फड़फड़ा

कर रह जाती हैं। हो सकता है कि वे वापस लौट जाएं या फिर कल्याण सिंह की तरह संकट में फंसे किसी पिछड़े नेता की शरण पा लें। लेकिन उन जैसे सधे (जिन्हें गुरुजनों ने अच्छी तरह से सधाया हो) स्वयंसेवक हिंदुत्व का खेल जरूर खेलेंगे – उस दमित–इच्छा की पूर्ति में कि हिंदुत्व ब्राह्मणों की बपौती नहीं है। जबकि भारतीय सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास का कच्चा जानकार भी जानता है कि वह उन्हीं की बपौती है। और जब तक रहेगा, तय है कि रहेगा, ब्राह्मणों की बपौती बन कर ही रहेगा।

इस किस्से को ज्यादा न बढ़ा कर अब हम मुलायम सिंह पर आते हैं जो आजकल नए फार्म में हैं। जिन सपा और उसके बाहर के समाजवादियों को यह मुगालता रहता है कि अमर सिंह गलत हैं, मुलायम सिंह नहीं, वे देख लें। मुलायम सिंह और अमर सिंह एकमेक हो गए हैं। आप पूछेंगे कि इस एकमेकत्व में किसके व्यक्तित्व का विलोप हुआ है तो बच्चा भी बता देगा – मुलायम सिंह का। सपा में अब अमर सिंह ही अमर सिंह है। बाकी वहां जो भी हैं, अमर सिंह के होने में हैं। ऐसा खून पानी हुआ है सपा नेताओं और कार्यकर्ताओं का! कल्याण सिंह से दोस्ती के चलते सपा के वरिष्ठ नेता आजम खां खफा चल रहे हैं। पिछले दिनों उनकी नाराजगी के बारे में पूछने पर मुलायम सिंह ने जवाब दिया कि आजम खां संघर्ष के साथी रहे हैं। यानी अब जबकि संघर्ष का सुख लूटने का समय है, तो आजम खां भी लूटें और दूसरों को भी लूटने दें। आजम खां के फिर भी नाराज रहने पर हाल में फिर मुलायम सिंह ने जो कहा है कि 'उन्हें विश्वास है वे पार्टी को नुकसान नहीं पहुंचाएंगे', उसका अर्थ यही है कि वे सुख–शैया में विघ्न नहीं डालेंगे। न मुलायम सिंह की, न अपनी, न अन्य सपा नेताओं की। इससे आजम खां क्या कोई सपा नेता इनकार नहीं कर सकता कि मुलायम सिंह अगर खुद सुख–शैया पर लेटते हैं तो अन्यों को भी 'काया–माया' के सुख की पूरी छूट देते हैं। मुलायम सिंह समेत सपा के समाजवादियों के शरीर पर अमर सिंह जैसी चर्बी ऐसे ही नहीं चढ़ी हुई है।

आजम खां को वाकई मुसलमानों की फिक्र होती तो पहले ही सपा से किनारा कर चुके होते। मुलायम सिंह की कल्याण सिंह से दोस्ती कोई नई घटना नहीं है। उत्तर प्रदेश की पिछली सपा सरकार में कल्याण सिंह की पार्टी भागीदार थी। उनका बेटा, जो सपा का महासचिव बनाया गया है और जिसने भाजपा के राममंदिर आंदोलन में दिन–रात एक किया था, उस सरकार में मंत्री था। कुसुम राय भी थीं। दरअसल, संघर्ष का सुख लूटने की राजनीति ही आज की राजनीति है। संघर्ष करो, फिर जम कर सुख लूटो। ज्यादातर तो पार्टी या परिवार द्वारा किए गए संघर्ष का ही सुख लूटते हैं। यह जरूरी नहीं है कि आपने राजनीति में ही संघर्ष किया हो। फिल्म, खेल – विशेषकर क्रिकेट, अंडरवर्ल्ड, पत्रकारिता, विद्वता, कला, नौकरशाही आदि राजनीति से इतर क्षेत्रों में किए गए संघर्ष का सुख भी राजनीति में लूटा जा सकता है। सुख लूटा कैसे जाता है, यह बताने के लिए सबके पास अपने–अपने अमर सिंह हैं। जिनके पास आपको नहीं दिखाई देता, उनके भीतर बैठा है। कई वामपंथी मित्र यह कहते पाए जाते हैं कि सीताराम येचुरी माकपा के अमर सिंह हैं!

साम्राज्यवादपरस्त कहेंगे हम हल्की बात कर रहे हैं, आप भी 'बात हल्की' करने की

शिकायत कर सकते हैं। लेकिन आप देखिए तो सही – देश का प्रधानमंत्री कौन है और दावेदार कौन हैं?एक राजनीतिक रूप से निरक्षर महिला ने एक राजनैतिक निरक्षर को देश का प्रधानमंत्री बनाया हुआ है और अपने नितांत निरक्षर बेटे को आगे बनाने जा रही हैं। देश को सांप्रदायिकता की आग में झोंक देने वाला, संविधान में घोषित अनास्था रखने वाली पार्टी का व्यक्ति प्रधानमंत्री का उम्मीदवार है। बाकी 'गेलेक्सी' पर भी नजर डाल लीजिए – नरेंद्र मोदी (पहला नाम हमने इसलिए रखा है कि वे देश के पूंजीपतियों की पहली पसंद हैं, कल को बहुराष्ट्रीय कंपनियों की भी होंगे और यही अमेरिका उनकी उम्मीदवारी का समर्थक हो सकता है), मायावती, लालूप्रसाद यादव, रामविलास पासवान, मुलायम सिंह यादव, एचडी देवगौड़ा। हम हल्के न होते तो दुनिया के एक महान स्वतंत्रता संघर्ष की विरासत के बरक्स यह हल्कापन संभव था?हल्केपन की हकीकत को स्वीकार किया जाना चाहिए। तभी किसी बात में जान आएगी।

मुसलमान आपकी खेती नहीं हैं

आजम खां समेत मुलायम सिंह और कल्याण सिंह की दोस्ती पर फूं–फां करने वाले उत्तर प्रदेश के मुस्लिम नेता, जो ज्यादातर बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद अस्तित्व में आए हैं, यानी जिनका राजनीतिक संघर्ष का कोई इतिहास नहीं है, जल्दी ही शांत हो जाएंगे। वे उलेमा भी जो दावा कर रहे हैं कि मुसलमानों का वोट जिन पार्टियों को चाहिए वे उनके पीछे आएं। अलग मुस्लिम राजनीति करने का प्रयास करने वाले मुस्लिम संगठन और बुद्धिजीवी भी चुप हो जाएंगे। कोई सपा के पक्ष में, कोई बसपा के, कोई रालोद के और कोई कांग्रेस के। बाबरी मस्जिद से जुड़ी आम मुसलमानों की भावनाओं का सौदा जिससे भी पट जाए। ये नेता, उलेमा अथवा बुद्धिजीवी उतने नहीं, जितने आम मुसलमानों के वोटों के सौदागर हैं। विडंबना है कि इस पूरे प्रकरण में जिनकी अहमियत है और जिनकी जिंदगी दांव पर लगी है, उन्हें कोई नहीं पूछ रहा है। उनकी राजनैतिक समझ और चेतना के विकास की चिंता जब सेकुलर पार्टियों, मुस्लिम नेतृत्व और बुद्धिजीवियों को नहीं है तो उलेमाओं को भला क्यों होगी?

आगामी चुनाव में आम मुसलमानों की भावनाओं से जम कर खेला जाएगा। हर बार की तरह उन्हें भाजपा का डर तो दिखाया जाएगा ही। कल्याण सिंह से मिलने का मुलायम सिंह का मुख्य तर्क भाजपा को कमजोर करने का है। लेकिन जब मुसलमानों में मुलायम की मजबूती कम होती दिखने लगी तो उसे बनाए रखने के लिए कल्याण सिंह ने बाबरी मस्जिद के ध्वंस की नैतिक जिम्मेदारी ले ली। अब भले ही इससे मजबूती अडवाणी की हो, जो अब कहेंगे कि मस्जिद तोड़ने वाला तो मस्जिद बचाने वाले के साथ चला गया! लखनऊ से एक विशेषज्ञ ने कहा है कि कल्याण सिंह के सपा के साथ आने से सांप्रदायिकता का कारखाना ही नष्ट हो जाएगा। बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी की 'अवैध' मीटिंग में मौलाना मोहम्मद इदरीस ने कहा, (मुसलमानों को) यह याद रखना चाहिए मुलायम सिंह ने कारसेवकों पर गोली चलाने का आदेश दिया था। हमारे कई मित्र भी इस मीजान को चुनाव के लिहाज से बहुत अच्छा मान रहे हैं। कहने का आशय यह है कि बाबरी मस्जिद के विध्वसंक कल्याण सिंह से मिलने के बावजूद

हर बार की तरह मुलायम सिंह के पक्ष में मुसलमानों को लामबंद करने वालों की कमी नहीं रहेगी।

उसी तरह मायावती के पक्ष में भी मुसलमानों को घेरा जाएगा और कांग्रेस व रालोद के पक्ष में भी। भाजपा के पास भी कुछ मुस्लिम चेहरे हैं। वह भी अपना हिस्सा लेगी। पिछले करीब 20 साल से उत्तर प्रदेश के मुसलमानों के साथ यही किया जा रहा है। आगे भी यह सिलसिला बंद नहीं होने जा रहा है। मुसलमानों को घेरने वाली यह धर्मनिरपेक्षता दरअसल घटिया किस्म की सांप्रदायिक राजनीति है। इसके लिए मुस्लिम नेतृत्व – राजनीतिक और धर्मिक दोनों – कम जिम्मेदार नहीं है। राजनैतिक पार्टियों ही नहीं मुस्लिम नेतृत्व के लिए भी मुसलमान वोट बैंक हैं। बल्कि यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक पार्टियों के मुकाबले मुस्लिम नेतृत्व मुस्लिम जनता, जो ज्यादातर गरीब और अशिक्षित है, के राजनीतिकरण के रास्ते में ज्यादा बड़ी रुकावट है। हम समझते हैं कि उत्तर प्रदेश के आम मुसलमान को इस बार उसके चौतरपफा कसा घेरा तोड़ देना चाहिए। इस आम चुनाव में उसे उस मुलायम सिंह को जो कल्याण सिंह के साथ पहले और अभी मिल चुके हैं, मायावती को जो 2002 में गुजरात में मुसलमानों के राज्य–प्रायोजित कत्लेआम के बाद नरेंद्र मोदी के साथ चुनावी अभियान में शामिल हुईं और भाजपा के साथ मिल कर तीन बार सत्ता का साझा कर चुकी हैं, उस अजीत सिंह को जो पहले और इस बार भी भाजपा से मिले हुए हैं, उस रामविलास पासवान को जो भाजपानीत एनडीए सरकार में मंत्री थे और गुजरात कांड के बाद भी बने रहे, उस कांग्रेस को जिसने बाबरी मस्जिद का ताला खुलवाया, वहां मंदिर के लिए शिलान्यास कराया और लंबे समय तक मुसलमानों को वोट बैंक बना कर रखा – वोट देने से इनकार कर देना चाहिए।

मुसलमानों को अब यह समझ लेना चाहिए कि भाजपा के भय से वे जिन पार्टियों या नेताओं को वोट देते आ रहे हैं, उन सभी ने भाजपा को मजबूत किया है। इस हद तक कि केंद्र में उसकी छह साल सरकार रह चुकी है। गुजरात में तीसरी बार सहित कई राज्यों में में भाजपा की सरकारें हैं ही। ऐसा भी नहीं है कि भविष्य में सांप्रदायिक भाजपा को रोकने के लिए उनके पास कोई ठोस राजनीति और रणनीति हो। मुलायम सिंह कह ही चुके हैं कि भाजपा अगर अपना हिंदुत्व का एजेंडा छोड़ दे तो वे उसके साथ हाथ मिला सकते हैं। एनडीए में आवाजाही करने वाले नेताओं की भी यही दलील होती है कि हमने भाजपा से तीन विवादास्पद मुद्दे – धारा 370, सामान्य नागरिक संहिता और राममंदिर – छुड़वाने के बाद समझौता किया है। और मुसलमानों के वोट उन्हें मिलते हैं। मायावती को इतना भी कहने की जरूरत नहीं पड़ती। वे हमेशा आश्वस्त रहती हैं कि भले ही वे दस बार भाजपा से मिल जाएं और नरेंद्र मोदी का प्रचार करें, मुसलमान उसकी पार्टी के पक्ष में 'टेक्टिकल वोटिंग' करेंगे ही। 'टेक्टिकल वोटिंग' का कुछ न कुछ हिस्सा कांग्रेस को भी मिलता है। इन सभी पार्टियों को मुसलमानों के लिए कुछ खास करने की जरूरत नहीं होती। लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव में कुछ मुस्लिम उम्मीदवार खड़े करने होते हैं और इक्का–दुक्का मुसलमान राज्यसभा में भेजना होता है। इस तरह से राजनीति में आए ये मुसलमान नेता राजनीति में बने रहने के लिए पार्टियां बदलते रहते हैं।

ऐसे में मुलायम सिंह यह अच्छी तरह जानते हैं कि कल्याण सिंह से हाथ मिलाने के बावजूद उनका मुस्लिम वोट बैंक नहीं खिसकेगा। अभी भी सबसे ज्यादा मुस्लिम नेता और उलेमा उन्हीं के पास हैं। और 'मौलाना मुलायम' का खिताब भी! ले–दे कर अभी तक केवल मुजफ्फर नगर के सांसद शफीकुर्रहमान ने पार्टी छोड़ी है। लेकिन वे मुसलमानों को कोई नई रौशनी या रास्ता दिखाने नहीं जा रहे हैं। ज्यादा संभावना यही है कि वे लौट आएंगे या किसी मायावती या अजीत सिंह की पार्टी से टिकट ले लेंगे। उलेमा काउंसिल की जो कवायद लखनऊ में चल रही है न उसका स्वरूप स्पष्ट है, न दिशा। हमारा सवाल है, और मुसलमानों से है, क्योंकि तात्कालिक और सत्ता की राजनीति के नशे में चूर तथाकथित धर्मनिरपेक्ष नेताओं के कान पर जूं नहीं रेंगती है। क्या हिंदुत्व का एजेंडा धारा 370, सामान्य नागरिक संहिता और राममंदिर में सिमट जाता है?इनमें राममंदिर का एजेंडा तो पूरा हो चुका है। मस्जिद गिराई जा चुकी है और दो दशक बीतने जा रहे हैं लेकिन उसका पुनर्निमाण नहीं हुआ है। मस्जिद का पुनर्निमाण किसी धर्मनिरपेक्ष पार्टी के एजेंडे या घोषणापत्र में नहीं है। भाजपा हर चुनाव से पहले राममंदिर बनाने की खुली घोषणा करती है जो उसने इस बार भी कर दी है। भव्य राममंदिर के निर्माण की समस्त सामग्री तैयार है। जाहिर है, वहां मंदिर ही बनेगा। और फिर मथुरा की बारी आएगी।

इससे क्या फर्क पड़ता है कि उस अवसर पर मस्जिद तोड़ने वाले कल्याण सिंह भाजपा में नहीं होंगे। वे जहां भी होंगे सच्चे स्वयंसेवक के नाते उनकी छाती ठंडी होगी। और वे यह मानते होंगे, जोकि सही होगा, कि मंदिर–निर्माण का श्रेय सबसे ज्यादा उन्हीं को है। यह कहने वाले भी हम कौन हैं कि कल्याण सिंह उस 'महान अवसर' पर भाजपा में नहीं होंगे। ब्राह्मण वाजपेयी से झगड़ते हुए उनका स्वयंसेवक भाजपा से बाहर आया था और ब्राह्मण वाजपेयी के समझाने पर ही वापस लौट गया था। अमर सिंह ने बताया है कि अगर वाजपेयी कल्याण सिंह को नहीं मना लेते तो वे उसी समय सपा में शामिल हो जाते। जाहिर है, वे फिर भाजपा में लौट सकते हैं। ब्राह्मण बड़ा करतबी होता है। वह लात लगाता है, फिर पास बुला लेता है और पैरों में गिर भी सकता है। यकीन न हो तो मायावती के पैरों के आस–पास नजर डाल कर देख लीजिए!

कल्याण सिंह, भगवान उन्हें लंबी आयु दे, अगर फिर से भाजपा में लौटने से पहले भगवान को प्यारे हो जाते हैं तो राममंदिर निर्माण का दृश्य स्वर्ग से देखेंगे। लेकिन उनका पुत्र वहां उनका प्रतिनिधित्व करते हुए उपस्थित हो सकता है। जैसे सोनिया गांधी को अपने बेटे के लिए देश चाहिए, वैसे ही मुलायम सिंह को अपने बेटे के लिए उत्तर प्रदेश। पिछड़ी राजनीति में जो छीना–झपटी मची है, वह राजवीर सिंह को जल्दी ही भाजपा के पाले में जाने को मजबूर कर सकती है।

हमारा कहने का आशय यह है कि इस पूरी राजनीति में कमजोर भाजपा को नहीं, मुसलमानों को होते जाना है। भाजपा का हिंदुत्व तीन मुद्दों में सिमटा नहीं है। वह भारतीय राष्ट्र की विरोधी पार्टी है। भारतीय संविधान में उसका विश्वास नहीं है। भारतीय समाज में वह एक विध्वंसक उपस्थिति है। भाजपा जब सुधरेगी तब सुधरेगी। आगामी आम चुनाव में मुसलमान

अगर पूर्ण असहयोग करते हैं, तो भाजपा का भय दिखा कर मुसलमानों का घेराव करने वाली धर्मनिरपेक्षता की राजनीति को सुधरना ही होगा। वह नहीं सुधरती है तो टूटेगी और देश में नई राजनीति को जमीन मिलेगी।

अब हम एक अत्यंत संवेदनशील समस्या पर चर्चा करना चाहते हैं। यह चिंता की बात है कि पूरे प्रकरण में अभी तक किसी नेता या बुद्धिजीवी ने उधर ध्यान नहीं दिया है। लोहिया ने राजनीति को अल्पकालिक धर्म और धर्म को दीर्घकालिक राजनीति कहा है। आज के भारत की राजनीति का हाल देख लीजिए। वह सत्ता हथियाने के तात्कालिक हथकंडों का पर्याय बन चुकी है। इससे भी बुरी बात यह है कि इस तरह से हथियाई गई सत्ता साम्राज्यवाद की सेवा में लगती है। कोई पार्टी या नेता, दीर्घकालिक की तो जाने दीजिए, देश और समाज के अल्पकालिक हित तक की बात नहीं सोचता। बाबरी मस्जिद का ध्वंस मुसलमानों के लिए भावानात्मक आघात भर नहीं था जो समय के साथ भर चुका है। तभी मुलायम सिंह जैसे नेता भी कह रहे हैं कि बाबरी मस्जिद का ध्वंस अब कोई मुद्दा नहीं है। इस सच्चाई से अब और मुंह चुराना सही नहीं होगा कि मस्जिद ध्वंस की घटना ने कुछ मुस्लिम युवकों को कट्टरपंथ की ओर अग्रसर किया है, जहां से वे आतंकवाद के रास्ते पर जा निकले हैं। 2002 में हुए गुजरात कांड ने उन युवकों की मनोदशा में आग में घी का काम किया है। जिसे अंतर्राष्ट्रीय आतंकवादी नेटवर्क कहा जाता है, ये युवक उसकी चपेट में आ चुके हैं। देश में जितने भी आतंकवादी हमले हो रहे हैं, उन सभी में बाबरी मस्जिद का ध्वंस सर्वप्रमुख कारक के रूप में मौजूद रहता है। आज जबकि मुलायम सिंह जैसे नेता कल्याण सिंह से मिल रहे हैं और भाजपा के साथ जाने के वक्तव्य दे रहे हैं, इन भटके हुए युवकों पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हो रही होगी?चुनावी गणित में व्यस्त किसी भी नेता को इसका खयाल नहीं है।

मुलायम सिंह और कल्याण सिंह मुस्लिम मन में लंबे समय तक खुदे रहेंगे। पहला इस रूप में कि उसने बाबरी मस्जिद को बचाने के लिए अपनी सत्ता को दांव पर लगाया और दूसरे ने बाबरी मस्जिद को गिराने के लिए। कल्याण सिंह से मिलने से पहले तक मुसलमान यह तसल्ली पाते थे कि देश में अगर एक मस्जिद गिराने वाला है तो एक उसे बचाने का उद्यम करने वाला भी है। अब ये दोनों खुल कर एक साथ हो गए हैं। मुस्लिम नेता और उलेमा भी, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, उधर ही रहने वाले हैं। अब कोई ऐसी तसल्ली नहीं बची है जो मुसलमानों को दी जा सके और वे आतंकवाद के रास्ते पर निकले युवकों को दे सकें। ऐसे में हमारा मानना है कि कोई फतवा या फरमान काम नहीं करेगा और मुस्लिम युवकों का अविश्वास और अलगाव और बढ़ेगा। अंतर्राष्ट्रीय आतंकवादी नेटवर्क का वे और ज्यादा शिकार होंगे। भला कौन मुसलमान चाहेगा कि मुस्लिम युवकों का आदर्श बिन लादेन बने या वे पाकिस्तान और अफगानिस्तान में सक्रिय कट्टरपंथी गुटों के प्रभाव में आएं? लेकिन हमारे नेताओं और बुद्धिजीवियों को इसकी कोई परवाह नहीं है।

इस राजनीति के पैरोकार कह सकते हैं कि खुफिया एजेंसियों की चुस्ती और सुरक्षा बलों की ताकत पर उन आतंकवादी युवकों से निपट लिया जाएगा। नहीं तो अमेरिका–इजरायल से

मदद ली जाएगी। आखिर इतना हरबा–हथियार किस दिन के लिए खरीदा जा रहा है?यह सोच भयानक नतीजों की तरफ ले जाने वाली है। उन्हें भी जो इस सोच के प्रस्तावक और समर्थक हैं। यह हम देख चुके हैं, भुगत चुके हैं। हथियारों से यह समस्या हल नहीं हो सकती। यह गांधी का देश है। उनके रास्ते पर मुसलमान इस बार अपने वोट का असहयोग कर दें। भारत के मतदाताओं की परिपक्वता की दाद अक्सर दी जाती है। इस बार भारत के मुसलमान, कम से कम उत्तर प्रदेश के मुसलमान, भारतीय मतदाता की परिपक्वता को पराकाष्ठा पर पहुंचाने का काम करें। बता दें कि वे तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के नेताओं और उलेमाओं के बंधुआ नहीं, स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक हैं। नवसाम्राज्यवादी गुलामी के इस दौर में मुसलमानों के बीच से निकला स्वतंत्रता का संदेश भारत की समूची वंचित आबादी के लिए मंत्र का काम करेगा।

खंड : तीन
पूरे देश में फैलता 'गुजरात'

कट्टरता की जीत का फैसला!

उदारता और कट्टरता का संघर्ष

''भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी लड़ाई हिंदू धर्म में उदारवाद और कट्टरता की लड़ाई पिछले पांच हजार सालों से भी अधिक समय से चल रही है और उसका अंत अभी भी दिखाई नहीं पड़ता। इस बात की कोई कोशिश नहीं की गई, जो होनी चाहिए थी कि इस लड़ाई को नजर में रख कर हिंदुस्तान के इतिहास को देखा जाए। लेकिन देश में जो कुछ होता है, उसका बहुत बड़ा हिस्सा इसी के कारण होता है।'' (डॉ. राममनोहर लोहिया के निबंध 'हिंदू बनाम हिंदू' से उद्धृत)

कुछ साल पहले हमारे लेखों की पुस्तक 'कट्टरता जीतेगी या उदारता' के प्रकाशन पर साथी प्रेमपाल शर्मा ने कहा था, ''दोस्त चिंता न करो, उदारता ही जीतेगी।'' शर्मा जी की खासियत यह है कि वे भारत और दुनिया में कट्टरता के उत्तरोत्तर बढ़ते जाने पर चिंता करने के साथ आशा से भरे रहते हैं। उनके आशावाद से हमें प्रेरणा मिलती है। शीर्षक में विस्मयादिबोधक उसी आशावाद का चिन्ह है। उदारता और कट्टरता का संघर्ष पुराना है और, जैसे कि हालात हैं, आगे भी चलने वाला है। हिंदू धर्म के दायरे में इस संघर्ष का विवेचन डॉ. राममनोहर लोहिया के निबंध 'हिंदू बनाम हिंदू' (1950) में देखा जा सकता है। लोहिया का यह महत्वपूर्ण निबंध गांधी की हत्या की घटना का विश्लेषण करने के दबाव में लिखा गया प्रतीत होता है।

लोहिया मानते हैं कि गांधी की हत्या करके ''हारती हुई कट्टरता ने उदारता से अपने युद्ध में'' अपने इतिहास का ''सबसे जघन्य जुआ'' खेला था। ''महात्मा गांधी की हत्या, हिंदू–मुस्लिम झगड़े की घटना उतनी नहीं थी जितनी हिंदू धर्म की उदार–कट्टरपंथी धाराओं के युद्ध की।'' वे लिखते हैं, ''गांधी जी का हत्यारा वह कट्टरपंथी तत्व था जो हमेशा हिंदू दिमाग के अंदर बैठा रहता है, कभी दबा हुआ और कभी प्रकट, कुछ हिंदुओं में निष्क्रिय और कुछ में तेज। जब इतिहास के पन्ने गांधी जी की हत्या को कट्टरपंथी [और] उदार हिंदुत्व के युद्ध की एक घटना के रूप में रखेंगे और उन सभी पर अभियोग लगाएंगे जिन्हें वर्णों के खिलाफ और स्त्रियों के हक में, संपत्ति के खिलाफ और सहिष्णुता के हक में, गांधी जी के कामों से गुस्सा आया था, तब शायद हिंदू धर्म की निष्क्रियता और उदासीनता नष्ट हो।''

मार्क्सवादियों और आधुनिकतावादियों ने नेहरू और उनके बाद के कांग्रेसियों के मातहत लोहिया के चिंतन को मुख्य बौद्धिक विमर्श में नहीं आने दिया। इस मामले में उन्होंने पूरी कट्टरता से काम लिया। उनके चिंतन को शिक्षण और शोध में जगह मिलती तो शिक्षार्थी और शोधकर्ता उसे समझ और विकसित कर पाते। लिहाजा, गांधी की हत्या करने वाली हिंदू कट्टरता की शिनाख्त और काट का बड़ा काम आज तक नहीं हो पाया। इस दिशा में लोहिया को बाहर रख कर जो चिंतन किया गया है, वह कारगर नहीं रहा है। प्रमाण के रूप में अयोध्या

का फैसला सामने है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, कट्टरता की यह जीत विभाजन और गांधी की हत्या के बाद जबरदस्त है। बाबरी मस्जिद के ध्वंस से भी ज्यादा इसका हमारे राष्ट्रीय जीवन पर प्रभाव पड़ेगा।

फैसले पर अखबारों, चैनलों और नेट पर काफी बहस चल रही है। जैसा कि इन माध्यमों में होता है, बहस सतही और गंभीर दोनों स्तर की है। उसके विस्तार में हम नहीं जाएंगे। लोगों की नजर में न्यायपालिका की मान्यता और फैसले की संतुलित प्रकृति ने शुरू में स्वागत और खुशी का माहौल पैदा किया। सामान्यत: माना गया कि फैसला अच्छा है, न किसी की जीत है, न किसी की हार। लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि फैसला न न्यायपालिका की मान्यता के अनुकूल है, न संतुलित। वह तथ्य, जो न्यायपालिका के फैसलों का आधार होते हैं, नहीं आस्था और विश्वास पर, तथा संतुलन/समन्वय नहीं, बहुसंख्यावाद पर आधरित है। यह भी जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि फैसला देने वाले तीन न्यायधीशों में से एक धर्मवीर शर्मा ने फैसले की जगह आरएसएस का पेंफलेट जैसा लिखा है और बाकी के दो न्यायधीशों सुधीर अग्रवाल और यूएस खान ने बहुसंख्यक हिंदू समाज की 'आस्था के तर्क' के सामने सिर झुकाया है।

मजेदारी देखिए, न्यायधीश शर्मा कहते हैं कि तोड़ा गया ढांचा मस्जिद नहीं थी क्योंकि उसका निर्माण इस्लाम के सिद्धांतों को दरकिनार करके किया गया था। जाहिर है, उन्हें रात के अंधेरे में कपट–पूर्वक मस्जिद में मूर्तियां रखना, संतो–साध्वियों का चोला पहने 'रामभक्तों' द्वारा अश्लीलतम भाषा में मुसलमानों के खिलाफ खुलेआम घृणा फैलाना, उन्मादी भीड़ को आगे करके अपनी मौजूदगी में मस्जिद तोड़ना और उसकी सजा से बचने के लिए हर तरह का झूठ–फरेब करना हिंदू धर्म के सिद्धांतों के मुताबिक लगता है! संघ संप्रदाय जिसे आस्था मानता है उस पराजित मानसिकता के उन्माद का शिकार न्यायधीश स्तर के लोग भी होते हैं तो इससे ज्यादा गंभीर संकट की स्थिति नहीं हो सकती।

फैसले को बारूदी सुरंग हटाने जैसा जोखिम भरा काम मानने वाले न्यायधीश यूएस खान तो भयभीत नजर आते हैं। जिस देश में जज भयभीत हों वहां सामान्य नागरिकों का हाल समझा जा सकता है। न्यायालय की तरफ से संदेश है कि अब सबको डर कर रहने की जरूरत है। 'विधर्मियों' को ही नहीं, हिंदू धर्म के संघी संस्करण को नहीं मानने वाले सभी आस्तिक–नास्तिक भारतीयों को। कैसी विडंबना है, मठों और मंदिरों पर कट्टरता की चोट पड़ने के बावजूद मध्यकाल में धर्म का लोकतंत्र बना रहता है, लेकिन आधुनिक न्यायपालिका कट्टरता के पक्ष में फैसला देती है। यह सही है कि न्यायालय के बाहर सामाजिक–राजनीतिक समूह और संस्थाओं द्वारा लंबे समय तक किसी सुलह पर नहीं पहुंचने के बाद न्यायालय ने यह 'पंचायती' की है। लेकिन यह पंचायती वह उदार धारा के मद्देनजर और हक में भी कर सकता था। उससे दबा दी गई उदार धारा को उभरने और बढ़ने का मौका मिलता जो भारतीय राष्ट्र और समाज के लिए अनिवार्य है। अफसोस कि न्यायालय भी कट्टरतवादी बहाव में बह गया।

स्पष्ट है कि फैसले ने लालकृष्ण अडवाणी और उनके नेतृत्व में संतों–साध्वियों द्वारा

फैलाए गए सांप्रदायिक उन्माद और फिर मस्जिद के ध्वंस को सही ठहरा दिया है। आरएसएस खुशी से पागल है, जो कहता था कि न्यायपालिका के फैसले को कभी स्वीकार नहीं करेगा; क्योंकि वह जानता है कि फैसला अगर वाकई न्यायपालिका का होगा तो संपत्ति के स्वामित्व को लेकर होगा, जन्मस्थान को लेकर नहीं। संघ संप्रदाय की यह बड़ी सफलता है कि न्यायपालिका उसकी दबोच में आ गई है। वरना वह उसे ही अपने रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा मानता था। अब वह खुल कर और पूरे उत्साह से अन्य संस्थाओं को दबोचने का काम करेगा। इसे अत्युक्ति नहीं कहा जाए, न्यायालय ने हिंदू–राष्ट्र के लिए संजीवनी और पहले से ही लड़खड़ाते भारतीय राष्ट्र के लिए विखंडन का आदेश लिख दिया है।

कोई राष्ट्र भौगोलिक रूप से एक रहते हुए भी अंदरखाने टूटा हुआ हो सकता है। आज का भारत उसकी एक ज्वलंत मिसाल है। जाति और लिंग जैसे परंपरागत कटघरों एवं गरीब और अमीर भारत के विभाजन के अलावा उसमें और भी कई टूटें सिर उठाए देखी जा सकती हैं। इन टूटों को अक्सर पुरातनता और गरीबी के मत्थे मढ़ दिया जाता है। लेकिन आधुनिकता और अमीरी का अमृत छकने वाले मध्यवर्ग में भी राष्ट्रीय एकता के प्रति सरोकार दिखावे भर का है। वह खुद निम्न, मध्य और उच्च के सोपानों में विभाजित प्रतिस्पर्धी गुटों का अखाड़ा बना हुआ है। कट्टरता की ऐसी करामात है कि भारत में बुद्धिजीवी और कलाकार तक गिरोहबंदी चलाते हैं। कहने का आशय यह है कि भारतीय राष्ट्र को विखंडित करने वाली कट्टरता का फैलाव केवल संघ संप्रदाय तक सीमित नहीं है।

1950 में लोहिया लिखते हैं, ''आज हिंदू धर्म में उदारता और कट्टरता की लड़ाई ने हिंदू–मुस्लिम झगड़े का ऊपरी रूप ले लिया है लेकिन हर ऐसा हिंदू जो अपने धर्म और देश के इतिहास से परिचित है, उन झगड़ों की ओर भी उतना ही ध्यान देगा जो पांच हजार साल से भी अधिक समय से चल रहे हैं और अभी तक हल नहीं हुए हैं। कोई हिंदू मुसलमान के प्रति सहिष्णु नहीं हो सकता जब तक कि वह उसके साथ ही वर्ण और संपत्ति के विरुद्ध और स्त्रियों के हक में काम न करे। उदार और कट्टर हिंदू धर्म की लड़ाई अपनी सबसे उलझी हुई स्थिति में पहुंच गई है और संभव है कि उसका अंत भी नजदीक ही हो। कट्टरपंथी हिंदू अगर सफल हुए तो चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी हो भारतीय राज्य के टुकड़े कर देंगे, न सिर्फ हिंदू–मुस्लिम दृष्टि से बल्कि वर्णों और प्रांतों की दृष्टि से भी। केवल उदार हिंदू ही राज्य को कायम कर सकते हैं।'' वे आगाह करते हैं, ''अत: पांच हजार वर्षों से अधिक की लड़ाई अब इस स्थिति में आ गई है कि एक राजनीतिक समुदाय और राज्य के रूप में हिंदुस्तान के लोगों की हस्ती इस बात पर निर्भर है कि हिंदू धर्म में उदारता की कट्टरता पर जीत हो।''

लोहिया ने इस निबंध में एक जगह यह भी कहा है कि देश में एकता लाने की भारत के लोगों और महात्मा गांधी की आखिरी कोशिश की आंशिक सफलता को पांच हजार सालों की कट्टरपंथी धाराएं मिल कर असफल बनाने का जोर लगा रही हैं। उनके विचार में ''अगर इस बार कट्टरता की हार हुई, तो वह फिर नहीं उठेगी।'' लेकिन भारत के शासक वर्ग ने कट्टरता को मारने के बजाय भारत के लोगों और गांधी को मारने का काम चुना जो आज भी जारी है।

उसने ऊपर से जो भी फू–फां की हो, जैसे कि समाजवाद या रोशनी बुझ गई आदि, वह कट्टरता के साथ जुट कर खड़ा हुआ। शासक वर्ग का पिछलग्गू, जो अब उसका हिस्सा ही है, आधुनिक बुद्धिजीवी – वह पूंजीवादी हो या साम्यवादी या तटस्थ?– सादगी और शांति के विचार की भ्रूण–हत्या करने के लिए आमादा रहता है। उसी तरह जिस तरह भारत का पढ़ा–लिखा खाता–पीता मध्यवर्ग बालिकाओं की भ्रूण–हत्या करता है। गांधी को मारने की इस परिघटना की विस्तृत पड़ताल हमने अपनी आने वाली पुस्तक 'हम गांधी को क्यों मारते हैं?' में करने की कोशिश की हैं।

कट्टरता–विरोध के कर्तव्य

कट्टरता की जीत के इस फैसले का विरोध जरूरी है और आशा करनी चाहिए कि उच्चतम न्यायालय इसे अस्वीकार करेगा। उसके लिए जनमत बनाया जाना चाहिए। लेकिन यह काम गंभीरतापूर्वक सोच–समझ कर करने का है। विरोध के जो ज्यादातर स्वर सुनाई पड़ रहे हैं वे कट्टरता को हराने के बजाय अपने विमर्श या विचारधारा को जिताने की नीयत से ज्यादा परिचालित लगते हैं। कट्टरता को यह माफिक पड़ता है। ऐसे में वह उदारता की ताकत को भी अपने भीतर खींच लेती है। ऐसे माहौल में उदारता के फलने–फूलने का आकाश नहीं बचता। क्या हम कट्टरता से पूरित भारतीय सामाजिक–राजनीतिक परिदृश्य में किसी रामकृष्ण परमहंस या गांधी की उत्पत्ति की कल्पना कर सकते हैं?कट्टरता तो फिर भी उन्हें एप्रोप्रिएट करती है, लेकिन उसके मुकाबले के दावेदार कहेंगे कि परमहंस और गांधी को न केवल पैदा नहीं होना चाहिए, उनके पैदाइश से पैदा हुए प्रभावों को भी नष्ट करने का काम तेजी से होना चाहिए। भारत के सेकुलर और कट्टरपंथी दोनों खेमों का यह प्रण है। इस प्रण में दलितवादी और ज्यादातर स्त्रीवादी शामिल हैं। मायावती का हाथी, जैसा कि उनकी सरकार ने न्यायालय को बताया, हिंदू धर्म की कट्टरतावादी धारा का मजबूत वाहक और उसे पूंजीवादी कट्टरता से जोड़ने वाला है।

यह कोई रहस्य नहीं है। हम आपको बता चुके हैं कि ये सब आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के नवीनतम चरण नवउदरवाद अथवा नवसाम्राज्यवाद के प्रकट अथवा प्रच्छन्न भक्त हैं। ओबामा की जीत पर उसके साथ जब ये सब चिल्लाए थे – 'यस वी कैन' – तो उनकी मुराद यही थी कि हम भी अमेरिका बन सकते हैं। हम भी मानते हैं कि 'वे ही' अमेरिका बन सकते हैं। बल्कि नकली–सकली ढंग के अमेरिकन वे बने भी हुए हैं और अपनी कूद–फांद उन्हें दिखाते भी रहते हैं। गांधी आधुनिक औद्योगिक सभ्यता, जो साम्राज्यवादी होकर ही संभव होती है, के विकल्प हैं। इस गांधी को छोड़ कर 'उदार हिंदू गांधी' की बात कुछ नवउदारवादी यदा–कदा करते हैं। लेकिन वे भी जानते हैं कि उसका कोई अर्थ नहीं होता है। धार्मिक और नवउदारवादी कट्टरताएं एक–दूसरे के कीटाणुओं पर पलती हैं।

देश में फैसले के खिलाफ जनमत बनाते वक्त यह जरूरी है कि संवैधानिक मूल्यों – धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद और लोकतंत्र – के आधार पर फैसले का विरोध करने वालों की खुद

की निष्ठा उनमें अक्षुण्ण हो। विशेषकर पिछले दो दशकों से संविधान के साथ जो खिलवाड़ किया जा रहा है, उस पर सरसरी निगाह डालने से ही पता चल जाता है कि देश का शासक वर्ग, जिसमें अकेले संघ संप्रदायी नहीं हैं, की संविधान के प्रति निष्ठा दिखावे के लिए रह गई है। यहां तक कि बुद्धिजीवियों का सरोकार अपनी स्वार्थपूर्ति का रह गया है। किसी विधेयक, अध्यादेश, संशोधन, कानून आदि द्वारा संविधान की मूल भावना को नष्ट किए जाने पर भी बुद्धिजीवी सरकारों के साथ हो जाते हैं। हम शिक्षा के क्षेत्र की बात आपको पहले बता चुके हैं कि कैसे प्रोफेसर यशपाल और प्रोफेसर कृष्णकुमार जैसे विद्वान शिक्षा के बाजारीकरण का बीड़ा उठाने वाले सैम पित्रोदा और कपिल सिब्बल के पदाति बन गए हैं। बात वहीं आ जाती है — संविधान को चुनौती देने वाली कट्टरतावादी ताकतों और संविधान के पालन के नाम पर पलने वाला शासक–वर्ग देश की मेहनतकश जनता का साझा प्रतिपक्ष बना हुआ है। ऐसे में वह सांप्रदायिक, जातीय, क्षेत्रीय, गोत्रीय आदि कट्टरताओं का शिकार होता है तो दोष पूरा उसका नहीं होता।

भारत का बुद्धिजीवी–वर्ग संक्रमण की अवधारणा को रणनीति की तरह इस्तेमाल करता है। वह कहता है कि यह चीजों के सही दिशा में बढ़ने का संक्रमण काल चल रहा है। इस रणनीति के तहत आधुनिक दुनिया के करोड़ों–करोड़ लोगों की मौत और पीड़ाओं का औचित्य प्रतिपादित किया जाता है लेकिन अपनी कोई जिम्मेदारी स्वीकार नहीं की जाती। संक्रमण की रणनीति को हटा कर देखा जाए तो कुछ बातें स्पष्ट हैं। पूंजीवाद और उसकी गांठ में बंधा समाजवाद, वह एक पार्टी की तानाशाही वाला हो या एक से अधिक पार्टियों के लोकतंत्र वाला, कट्टरता को बढ़ाते और बलवान बनाते हैं। कट्टरता की अपनी परंपरा और पैठ तो है ही। इन हकीकतों को अनदेखा करके कट्टरता के विरोध के कर्तव्य तय नहीं किए जा सकते।

फैसले के बाद अशांति और हिंसा न फैलने की काफी तारीफ हुई है। कारण बताया गया कि भारत के लोग अब परिपक्व हो गए हैं। धर्म के नाम पर राजनैतिक रोटियां सेंकने वालों की असलियत वे पहचान चुके हैं। उन्हें सांप्रदायिक भारत नहीं चाहिए। लोगों में पैदा हुए इस गुण को ज्यादातर ने नवउदारवाद की नियामत बताया है। यानी नवउदारवाद भारत के लोगों को सांप्रदायिकता से काट कर आर्थिक महाशक्ति से जोड़ता है। इसे उलट कर भी कह सकते हैं — भारत को आर्थिक महाशक्ति बनाने में जुटे लोगों के पास सांप्रदायिक ताकतों के लिए फुरसत नहीं है। शायद वे यह भी मानते होंगे कि नवउदारवाद के चलते लोगों को कुछ समय के लिए आर्थिक जो कष्ट झेलने पड़ रहे हैं, सांप्रदायिकता के राक्षस से मुक्ति पाने की वह बहुत छोटी कीमत है। बल्कि कल के लिए उनके दिमाग में यह कहने के लिए भी हो सकता है कि सांप्रदायिक कट्टरता को परास्त करने के लिए वे नवउदारवादी कट्टरता को झेलते जाएं। वे तर्क देंगे, संप्रदायिक कट्टरता पिछड़ी और नवउदारवादी कट्टरता आगे ले जाने वाली है।

जो कहते हैं कि फैसले के बाद कोई दंगा नहीं हुआ, क्या वे कह सकते हैं कि फैसला हिंदुओं के हक में नहीं आता तब भी वैसा ही होता?जो इस फैसले के बाद मुसलमानों से फैसले

के तहत हिस्से में आई जमीन को छोड़ने और देश में लाखों जगहों पर लाखों मुकदमे दायर करने की ताल ठोंक रहे हैं, फैसला सुन्नी वक्फ बोर्ड के हक में आने पर क्या करते?क्या वे गारंटी दे सकते हैं कि मुस्लिम कट्टरता घात लगा कर वार नहीं करेगी?

कुछ सुधीजनों ने फैसले के बाद शांति कायम रहने के पीछे लोकतंत्र की मजबूती का तर्क भी दिया है। उनके मुताबिक हम इसी तरह अपने लोकतंत्र को मजबूत करते जाएं तो सांप्रदायिकता से जल्दी ही मुक्ति पा लेंगे। सचमुच यह सोच आशा बंधने वाली है। कमियों और खामियों के बावजूद लोकतंत्र आशा का सबसे बड़ा आधार है। इस बिगड़े लोकतंत्र में भी पिछड़ी और दलित राजनीति आपस में मिल जाए तो संप्रदायवादी और नवउदारवादी कट्टरताओं पर कुछ हद तक काबू पाया जा सकता है। लेकिन थोड़ा ठहर कर सोचें, क्या नवउदारवाद की सेवा में जुता लोकतंत्र सच्चे अर्थों में मजबूत कहा जाएगा?यह विस्तार से बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि देश में जो लोकतंत्र मजबूत हो रहा है, वह कांग्रेस और भाजपा के वर्तमान और भविष्य की मजबूती का लोकतंत्र है। भारत के लोकतंत्र को लेकर मनमोहन सिंह और लालकृष्ण अडवाणी की एक राय है – देश में दो – कांग्रेस और भाजपा – पार्टियां रहनी चाहिए; बाकी क्षेत्रीय पार्टियों को इन दोनों में मिल जाना चाहिए।

उनकी यह मान्यता निराधार नहीं है। देश की अन्य पार्टियां बारी–बारी से कांग्रेस या भाजपा के साथ जुड़ती रहती हैं। दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक यही स्थिति है। नितीश कुमार भाजपा का साथ नहीं छोड़ते कि कहीं रामविलास पासवान न लपक लें। समाजवादी पार्टी मस्जिद ध्वंस के उपनायक कल्याण सिंह के साथ मिल चुकी है। इधर राष्ट्रीय जनता दल के वरिष्ठ नेता रघुवंश प्रसाद सिंह ने कहा है कि राजद ने कांग्रेस का साथ छोड़ कर गलती की। माकपा पोलित ब्यूरो ने कहा ही था कि कांग्रेस से संबंध–विच्छेद करना घाटे का सौदा रहा। नवीन पटनायक, ममता बनर्जी, एम. करुणानिधि, जयललिता, चंद्रबाबू नायडू आदि नेता भाजपा–कांग्रेस से सुविधानुसार मिलते–बिछुड़ते रहते है।। मार्क्सवादी पार्टियों को भी कुछ सयाने लोग रास्ता दिखा रहे हैं कि राहुल गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस में वामपंथी धारा की प्रतिष्ठा हो चुकी है। लिहाजा, उन्हें कम से कम कांग्रेस के साथ मिलने से ऐतराज नहीं होना चाहिए। संदेश यह है कि सांप्रदायिकता से बचने के लिए लोकतंत्र के मौजूदा स्वरूप को बदलने की जरूरत नहीं है।

जिस तरह से एक स्थानीय विवाद को कट्टरतावादी ताकतों ने पूरे देश के स्तर पर फैलाया, समाज में सांप्रदायिकता और वैमनस्य का जहर घोला, पहले मुलायम सिंह के शासन में कारसेवकों की और पीछे कल्याण सिंह के शासन में मस्जिद–ध्वंस के बाद हजारों निर्दोष नागरिकों की दंगों में मौत हुई, केंद्र में भाजपानीत सरकार बनी और स्वाभाविक रूप से कट्टरता का कारोबार बढ़ा, मुस्लिम कट्टरता आतंकवादी बनी, कृष्णा आयोग की रपट पर कोई कार्रवाई नहीं हुई, संघ संप्रदाय के कतिपय हिंदुओं ने आतंकवादी कृत्यों को अंजाम दिया, गुजरात हुआ, उसके बाद निर्दोष नागरिकों पर आतंकवाद का कहर टूटा, जम्मू–कश्मीर जंग का मैदान बना, 49 बार कार्यकाल बढ़ाए जाने के बाद लिब्राहन आयोग की रपट आई और संसद से लेकर

सड़क तक पिटी, और अब यह फैसला आया – किस दिमाग से कहा जा रहा है कि लोग सांप्रदायिकता से हट गए हैं या हट रहे हैं? यह नवउदारवाद और उसकी सेवा में समर्पित लोकतंत्र को बचाने वालों का ही दिमाग हो सकता है।

भारत के सेकुलर खेमे में सांप्रदायिक कट्टरता का विरोध एक तदर्थ कर्तव्य जैसा माना जाता है। यह मानते हुए कि आधुनिकता के साथ धर्मनिरपेक्षता भी स्थापित हो जाएगी। इसलिए धर्म और दर्शन की उदार धारा को समझने और बचाने की कोई जरूरत नहीं है। उदारता के नाम पर सरकारी कार्यक्रमों में गंगा–जमुनी तहजीब की बात कर लेना काफी है। अंततः आधुनिकता ही सब संकटों से बचाएगी, इस विश्वास के चलते तात्कालिक और फुटकर किस्म के उपायों से काम निकाला जाता है। संकट गहराने पर किए जाने वाले कार्यक्रमों में सेकुलर दायरे के विभिन्न समूहों का थोड़ा–थोड़ा साझा कर लिया जाता है। कट्टरता का कहर जब बलि लेकर चला जाता है, सब अपनी–अपनी कंदराओं में लौट जाते हैं। राजग सरकार बनने और फिर गुजरात में मुसलमानों का राज्य–प्रायोजित नरसंहार होने पर मार्क्सवादी विद्वान कुछ दूसरे समूहों से भी बात करने लगे थे। उन दिनों एक–दो वामपंथी पत्रिकाओं ने लोहिया का 'हिंदू बनाम हिंदू' निबंध भी प्रकाशित किया। लेकिन जैसे ही कांग्रेस सत्ता में आ गई, वे अपनी दुनिया में लौट गए।

अपने राम और उनके राम

भारत के शासक वर्ग पर सब कुछ भव्य होने का खब्त सवार है। अयोध्या में जो मंदिर बनेगा, भव्य उसका विशेषण नहीं संज्ञा हो गया है। संघ संप्रदाय हमेशा भव्यमंदिर बनाने का एलान करता रहा है। न्यायपालिका का साथ मिल जाने के बाद भव्यता की उसकी कल्पना और ऊंचे जाएगी। जाहिर है, उसके भव्यमंदिर के आस–आस कोई और निर्माण नहीं रह या हो सकता। आमतौर पर कहा जाता है कि तुलसी ने राम को लोकमानस का प्रिय आराध्य बनाया। हम सभी जानते हैं तुलसी के राम की व्याप्ति केवल 'कास्ट हिंदुओं' तक सीमित नहीं रही है। लेकिन यह अकेले तुलसी की प्रतिभा का कमाल नहीं है। तुलसी के राम लोकमानस की अभिव्यक्ति ही हो सकते थे और वही हैं। यानी उनका सृजन लोकमानस और तुलसी की रचनात्मक प्रतिभा की परस्परता से हुआ है। इसीलिए 'रामचरित मानस' के राम अपने गुण–दोषों सहित धर्म की उदार धारा के राम हैं। शंबूक–वध और सीता–त्याग के प्रसंगों को नहीं रखने का निर्णय अकेले तुलसी का नहीं है। तुलसी का युग और समाज भी उसमें शामिल है। तभी अपने युग और समाज पर तुलसी ने ज्यादा प्रभाव बनाया, जो अभी तक चला आता है।

'मानस' सबसे लोकप्रिय होने के साथ सबसे विवादास्पद ग्रंथ भी रहा है। वह लोकभाषा, नाटकीयता, गेयता और दोहा–चौपाई जैसे लोकोपयुक्त छंदों के चलते सहज संप्रेषणीय रचना है। 'मानस' केवल रामकथा नहीं है। उसमें मानव–जीवन के विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक पक्षों की विवेचना की गई है और तुलसी ने उन पर अपना पक्ष रखा है। इन

पक्षों पर आम आदमी तुलसी से सहमत–असहमत होते हुए चर्चा करता रहा है। 'मानस' ने, वृहत्तर निचले समाज में विचार–विमर्श और व्याख्याओं का लोकतंत्र बनाया। हमें उसकी लोकप्रियता और विवादास्पदता का यही मुख्य कारण लगता है। माना जाता है कि तुलसी ने राम का परमब्रह्मत्व स्थापित किया। यह सही है। लेकिन उतना ही सही यह भी है कि तुलसी ने साथ ही राम का घोर लौकिकीकरण भी कर डाला। 'मानस' के बाद लोगों ने बहुत निकट से राम को प्यार किया, क्योंकि वे त्याग और बलिदान की मूर्ति थे। 'मानस' की मार्फत उन्होंने जाना, जहां राम होते हैं, वहीं अयोध्या होती है। 'मानस' के चलते हर बस्ती और हर घर अयोध्या बन गया। लोगों ने यह भी जाना कि भेद उसीके मन में हो सकता है जिसके हृदय में राम न हों। जब हृदय के करोड़ों मंदिर मौजूद हों तो ईंट–गारे के मंदिरों को बनाने और तोड़ने की परवाह कौन करता है?

बाबरी मस्जिद के निर्माण का समय 'मानस' की रचना का भी समय है। तुलसी ने 'मानस' सहित अपनी किसी रचना में मंदिर तोड़ कर मस्जिद बनाने की घटना का जिक्र नहीं किया है। अगर किसी पहले से टूटे अथवा तोड़े गए मंदिर पर मस्जिद बनाई गई थी तो तुलसी को राम की रचना और आराधना में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई। मंदिर तोड़े जाने से भक्ति का क्षय नहीं होता – दक्षिण से बाकी भारत तक फैला भक्ति साहित्य इसका प्रमाण है। जिस तरह मंदिर तोड़ने वाले भक्ति की नहीं, अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे, उसी तरह अब मस्जिद तोड़ कर मंदिर बनाने वाले पलट कर अपनी शक्ति दिखाना चाहते हैं। यह शक्ति प्रदर्शन राम–भक्ति और राष्ट्र–भक्ति दोनों की कसौटी पर खोखला है। 500 घुड़सवार लेकर हिंदुस्तान फतह करने वाले बाबर के नाम की मस्जिद 500 साल बाद तोड़ कर भव्यमंदिर बनाने की कवायद पर गर्व करने वाले शायद जानते नहीं कि वे कितने दयनीय हैं! या उन्हें कोई लिहाज नहीं है। हैरानी होती है कि भारत के संत–महात्मा कैसे हो गए हैं, जो अशोक सिंघल, प्रवीण तोगड़िया जैसे बक्कुओं के आगे–पीछे घूमते हैं। आस्था का पाठ तो वे उनसे क्या पढ़ेंगे, पैसा क्या इतनी बड़ी चीज है?

चोरी से रखी गई मूर्तियों को 'रामलला' और जन्मस्थान मान कर वहां राम का मंदिर बनाने का आदेश देने वाले न्यायधीश नहीं समझ पाए कि वह मंदिर किस कदर कट्टरता का प्रतिष्ठान होगा और आगे पीढ़ियों में कट्टरता पैदा करेगा? निस्संदेह भव्यमंदिर लोगों के आकर्षण का केंद्र रहेगा। बच्चों, युवाओं और बड़ी उम्र के लोगों के रेले के रेले उसे देखने आएंगे। सबको कहानी सुनाई जाएगी – 'आजादी के बाद के सबसे बड़े राम–मंदिर जनांदोलन' की, अडवाणी की रथयात्रा की, बाबर और उसकी औलादों की और उन्हें मारने के लिए सन्नद्ध 'श्री राम' की! रामकथाओं और रामलीलाओं के अर्थ कट्टरता की दिशा में बदलेंगे। सब कुछ नवउदारवाद के 'महाख्यान' में समाहित हो जाएगा।

अयोध्या में संघ संप्रदाय का जो भव्य मंदिर बनेगा, उसमें तुलसी के नहीं, संघ संप्रदाय के राम स्थापित होंगे। हमने करीब 10 साल पहले 'अपने राम उनके राम' शीर्षक से एक लेख 'जनसत्ता' में लिखा था जो 'कट्टरता जीतेगी या उदारता' (राजकमल प्रकाशन, 2004,

दिल्ली) में संकलित है। वह लेख, हमें लगता है, आज ज्यादा प्रासंगिक है। हम यहां उसे पूरा दे रहे हैं :

संघ संप्रदाय अपनी यह घोषणा दोहराता रहता है कि अयोध्या में जल्दी ही श्रीराम का भव्य मंदिर बनाया जाएगा। बीच–बीच में यह खबर भी आती रहती है कि अयोध्या के बाहर मंदिर के लिए पत्थर तराशने का काम तेजी से चल रहा है। निर्माणाधीन मंदिर के मॉडल की पूरे देश में झाँकी निकालने की योजना की भी खबर है। संघ संप्रदाय के लिए मंदिर–निर्माण का कार्य जारी रखना और उसका प्रचार करते रहना जरूरी है : राममंदिर आंदोलन को जीवित बनाए रखने के लिए और लोगों के बीच अपनी साख बनाए रखने के लिए, कि जो धन उनसे लिया गया है वह मंदिर–निर्माण के कार्य में लगाया जा रहा है। राममंदिर आंदोलन जीवित बना रहता है तो अयोध्या में मंदिर के निर्माण को रोक पाना असंभव ही होगा। जैसी कि संघ संप्रदाय की शपथ है, ज्यादा संभावना यही है कि मंदिर 'वहीं' बनेगा। निर्माण–स्थल के थोड़ा–बहुत ही इधर–उधर होने की गुंजाइश है। इस तरह राम का संघावतार हो जाएगा।

सोचने की बात अब यह है कि संघ संप्रदाय के मंदिर में जो राम विराजेंगे, उसके प्रतीकार्थ क्या वही होंगे जो जनमानस में आमतौर पर बने हुए हैं?यह सवाल धार्मिक उतना नहीं, जितना हमारे सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन से जुड़ा है। 'राम–राम' या 'सिया–राम' में जो सहजता और आत्मीयता होती है, वह संघ के 'जैश्रीराम' में नहीं है। राममंदिर आंदोलन के चलते राम के प्रतीकार्थ का न केवल अर्थ–संकोच हुआ है, अवमूल्यन भी हुआ है। इस पर आगे चर्चा करने से पहले यह जान लें कि हिंदुस्तान और दुनिया में राम का किस्सा बहुत पुराना है और उसका रूप हमेशा एक जैसा नहीं रहा है। वैदिक काल में ही राम की चर्चा मिल जाती है। तदनंतर रामकथा की पहली महत्वपूर्ण कृति वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' में वर्णित दशरथ पुत्र राम परमब्रह्म नहीं हैं। परमब्रह्म के अवतार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा पौराणिक काल में होती है और उनकी वाल्मीकि के राम से अभिन्नता प्रतिपादित की जाने लगती है।

धीरे–धीरे राम और उनके पूरे चरित का पूर्ण अलौकिकीकरण होता गया है। साथ ही उसकी व्याप्ति जैन और बौद्ध धर्मों से लेकर दक्षिण भारत और निकटवर्ती एशियाई देशों तक होती गई है। वाल्मीकि कृत 'रामायण' की आधिकारिक कथा से लेकर गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' की कल्पना और भक्ति–भावित कथा तक राम के चरित ने एक लौकिक महानायक से भक्तवत्सल भगवान तक की लंबी यात्रा तय की है। यह सही है कि जैन और बौद्ध ग्रंथों में राम और उनके चरित का वैसा ही वर्णन नहीं मिलता जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में – विष्णु के अवतार के रूप में – मिलता है। फिर भी उन्होंने रामकथा की लोकप्रियता के बहाव में उन्हें अपने धर्म में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्धों ने राम को बोधिसत्व के रूप में और जैनियों ने त्रिषष्टि महापुरुषों में से एक बलदेव के रूप में चित्रित किया है। बौद्ध धर्म के माध्यम से रामकथा निकटवर्ती एशियाई देशों में भी फैली और वहाँ की संस्कृति का हिस्सा बन गई। हालाँकि उन देशों में रामकथा के प्रति आकर्षण यहाँ की तरह राम के प्रति किसी तरह की भक्ति–भावना नहीं है। अलबत्ता आठवें दशक में प्रभुपाद के नाम से प्रसिद्ध भक्तिवेदांत स्वामी अभयाचरण ने

अमरीका में 'इस्कॉन' की स्थापना कर कृष्ण के साथ राम के प्रति भी अपने अमरीकी और यूरोपवासी शिष्यों में भक्ति–भावना जगाई। प्रभुपाद के अमरीकी शिष्य कीर्तनानंद स्वामी भक्तिपाद ने अमरीकी पाठकों के लिए भक्ति की दृष्टि से 'रामायण' लिखी है, जिसका हिंदी अनुवाद भारत में उनके शिष्य भक्तियोग स्वामी ने नवमुध्वन आश्रम, हृषिकेश की ओर से प्रकाशित किया है।

राम के चरित्र और कथा के देशी–विदेशी विविध रूपों के विवरणों का आज महज ऐतिहासिक या साहित्यिक महत्व ही है। कम से कम उत्तर भारत की सवर्ण और मध्यवर्ती जातियों की आबादी की भक्ति–भावना का आधार तुलसी के राम हैं, जिन्हें उन्होंने राजा दशरथ के राजकुमार पुत्र से ऊपर उठा कर, पूरे चरित सहित भक्ति और प्रेम की भावना में सराबोर कर दिया। 'मानस' में रावण भी सीता का हरण बदले या काम–वासना से प्रेरित होकर नहीं, मोक्ष पाने के उद्देश्य से करता है और राम के हाथों मारा जाकर सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। तुलसी ने सभी खल पात्रों की कुटिलता, उग्रता और छल जैसे दुर्गुणों को राम–भक्ति का अंग बना दिया है। तुलसी के इस उद्यम का उनकी जीवन–दृष्टि के संदर्भ में अध्ययन होना अभी बाकी है।

कबीर ने 'दशरथ सुत' से अलग राम की रचना की, लेकिन डॉ. धर्मवीर के मतानुसार ब्राह्मणवाद ने उसे अपने भीतर ही जज्ब कर लिया। लोगों के हृदय में तुलसी के राम की प्रतिष्ठा ही बनी हुई है। तुलसी के प्रति दलितों के आक्रोश को वाजिब कहा जा सकता है, लेकिन वे हिंदू धर्म की उदारवादी धारा के अंतर्गत ही आएंगे। यह अकारण नहीं हो सकता कि 'मानस' में सीता–त्याग और शंबूक–वध के किस्सों को जगह नहीं दी गई है। तुलसी ने रामचरित के माध्यम से जीवन के कुछ ऐसे व्यावहारिक आदर्शों की प्रतिष्ठा भी की जिनके चलते जनमानस में उनके राम को इस कदर लोकप्रियता हासिल हुई है। डॉ. लोहिया ने यह माना है कि ''शूद्र और पिछड़े वर्गों के मामले में [तुलसी कृत] रामायण में काफी अविवेक है।'' लेकिन निषाद–प्रसंग को उन्होंने ''जाति–प्रथा के इस बीहड़ और सड़े जंगल में एक छोटी–सी चमकती पगडंडी'' स्वीकार किया है। 'भरत अवधि सनेह ममता की, जदपि रामु सीम समता की' चौपाई को उद्धृत कर लोहिया ने लिखा है : ''राम समता की सीमा हैं, उनसे बढ़ कर समता और कहीं नहीं है। इस समता का ज्यादा निर्देश मन की समता की ओर है, जैसे ठंडे और गरम, अथवा हर्ष और विषाद अथवा जय और पराजय की दोनों स्थितियों में मन की समान भावना। मन की ऐसी भावना अगर सच है तो बाहरी जगत के प्राणियों के लिए भी छलकेगी। जिस तरह राम की समता छलकती है, उसी तरह भरत का स्नेह भी छलकता है। दोनों निषाद को गले लगाते हैं। यह सही है कि अब पालागी और गलमिलौवल को साथ–साथ चलाना प्रवंचना होगी। पालागी खतम हो और गलमिलौवल रहे।'' लोहिया ने ''द्विज और विप्र को हर मौके पर इतना ऊँचा'' उठाने तथा ''शूद्र और वनवासी को बहुत नीचे'' गिराने के लिए तुलसी के समय को दोष दिया है।

लोहिया यह तर्क देते वक्त भूल जाते हैं कि राम के एक अन्य दलित भक्त कबीर समय

का शिकार नहीं होते। तुलसी जहाँ उदारवादी ही बने रह जाते हैं, कबीर क्रांतिकारी रूप में सामने आते हैं। जाहिर है, तुलसी की सीमा समय के साथ उनके वर्ण और जाति की सीमा भी है। जो भी हो, तुलसी के राम परमब्रह्म होने के साथ मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, उदात्त हैं, उदार हैं, गरीब निवाज हैं, निर्बल के बल हैं, समता की सीमा हैं और सीता के साथ जगत में व्याप्त हैं। उन्हें राजनीति और राजमद नहीं व्यापते। रामलीला के एक प्रसंग में जामवंत शरणागत विभीषण को लंका का राज देने का वादा करने पर राम से कहते हैं कि अगर कल को रावण भी शरण में आ जाए तो आप उसे कहाँ का राज देंगे?राम कहते हैं अयोध्या का। यह पूछने पर कि फिर आप कहाँ का राज करेंगे, राम जवाब देते हैं कि वे वन का राज करेंगे।

तुलसी के राम शत्रुहंता नहीं हैं। रावण से उन्हें युद्ध करना पड़ता है, लेकिन युद्ध के पहले वे रावण को अपनी गलती सुधारने का पूरा मौका देते हैं। युद्ध के बीच में भी रावण को पूरा मौका दिया जाता है कि वह सीता को लौटा दे और अपने कुल सहित लंका का राज करे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, तुलसी ने राम द्वारा शंबूक की हत्या और सीता के त्याग की घटनाओं को 'मानस' में जगह नहीं दी है। लिहाजा, तुलसी के राम अगर जन–जन की आस्था के प्रतीक बने हैं, जिसका कि संघ संप्रदाय ने राममंदिर आंदोलन में इस्तेमाल किया है, तो उसके पीछे राम का देवत्व उतना कारण नहीं है, जितना उनका मर्यादित और मानवीय चरित्र। राम के चरित्र के ये गुण ही उन्हें समाज में लोगों के बीच परस्पर आदर और अभिवादन प्रकट करने का सर्वव्यापी माध्यम बनाते हैं। संबोधन और भी हैं, लेकिन वे संप्रदाय या धर्म–विशेष के लोगों के बीच ही होते हैं, जबकि लोग अपने संप्रदाय या धर्म के परे जाकर एक–दूसरे से 'राम–राम' करते हैं। यह 'राम–राम' गरीब और अमीर के बीच भी होती है।

तुलसी ने इंद्र से होड़ लेने वाले दशरथ के भव्य भवनों का वर्णन किया है। लेकिन उनके राम लोगों के मन–मंदिर में ही बसते हैं। संघ संप्रदाय का आंदोलन अयोध्या में भव्य राममंदिर के निर्माण के आह्वान पर टिका है, जिसे बनाने के लिए उन्होंने पहले ही छोटे–मोटे मंदिरों और पुजारियों का सफाया कर दिया था। यह विविध आस्थाओं वाले धर्म को सामीकृत करने की संघ संप्रदाय की जानी–मानी कोशिश तो है ही, हृदय के मंदिर को नष्ट करने की कोशिश भी है। आस्था यही है कि राम ने अयोध्या में जन्म लिया था। लेकिन उनके भक्तों की आस्था यह भी है कि अयोध्या वहीं है, जहाँ राम का निवास है। राम के वन–गमन पर पुरवासी 'अवध तहाँ जहाँ राम निवासु' कहते हुए उनके साथ चलते हैं। राम उन्हें तमसा नदी के किनारे रात को सोता हुआ छोड़ कर आगे चले जाते हैं। पुरवासियों के पास इसका कोई विकल्प नहीं बचता कि वे राम को अपने हृदय के मंदिर में धरण करके आगे का जीवन जिएं।

तुलसी ने लिखा है, 'सियाराममय सब जग जानी'। उन्होंने एक पल के लिए भी सीता और राम को अलग नहीं होने दिया है। रावण की कैद में रहते हुए भी सीता हमेशा राम के पास ही रहीं। लेकिन संघ संप्रदाय ने राम को सीता से काट कर निपट अकेला कर दिया है। सीता सहित राम के जीवन से जुड़े अन्य अनेक पात्रों से उनका विच्छेद अंततः उनके भक्तों से ही विच्छेद है। और विच्छेद है सामाजिक–सांस्कृतिक परस्परता और भाईचारे का। 'जाकी रही

भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' लिख कर तुलसी राम की अनंत महिमा और छवियों का बखान करते हैं। लेकिन संघ संप्रदाय ने, जिसकी उद्दाम लालसाएँ कहने को धार्मिक–सांस्कृतिक और असलियत में सांप्रदायिक–राजनैतिक हैं, राम को महज एक शत्रुहंता के रूप में घटित कर दिया है। संघ संप्रदाय के राम धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाए एक आम बादशाह बाबर, जो कई सदी पहले मर चुका है, और उसकी 'औलादों' का वध करने को सन्नद्ध हैं। संघ संप्रदाय के मंदिर में राम की यही 'मूरत' विराजेगी। भेद–नीति का सहारा लेकर अंगद को फोड़ने की चाल चलने वाले रावण को अंगद जवाब देते हैं कि भेद उसी के मन में होता है, जिसके मन में रघुवीर नहीं होते। राम का राजनैतिक इस्तेमाल करने वाले संघ संप्रदाय का सबसे बड़ा हथियार भेद–बुद्धि ही है और वह राम को भी उसी का प्रतीक बनाने पर तुला है। बल्कि उसने बना दिया है। हम धर्मनिरपेक्षतावादियों को ध्यान देना चाहिए कि मस्जिद–ध्वंस के लिए अयोध्या पहुँचा राम–भक्तों के विशाल हुजूम में संघ संप्रदाय के सदस्य गिने–चुने ही होंगे।

संघ संप्रदाय का दावा हमेशा यही रहा है कि हिंदू आस्था के प्रतीक–पुरुष का मंदिर बनाने से कोई भी ताकत उसे रोक नहीं सकती। उसके दावे में दम है। मुस्लिम समुदाय को उसका साफ आदेश है कि वह रास्ते से हट जाए, वरना जो 'राम–भक्त' बाबरी मस्जिद को ढाह सकते हैं, वे जबरदस्ती वहां मंदिर भी बना सकते हैं। प्रशासन, कानून और न्यायपालिका को वह न पहले खातिर में लाता था, न आगे लाएगा। समाज के एक अच्छे–खासे हिस्से में 'राम–लहर' उठा कर धर्मनिरपेक्षतावादियों की बोलती वह पहले ही बंद कर चुका है। धर्मनिरपेक्ष राज्य को भी उसने काफी कुछ अपने कब्जे में कर लिया है। जातिवादी राजनीति सांप्रदायिक राजनीति का दीर्घावधि और सकारात्मक जवाब नहीं है। लोहिया ने हिंदू धर्म में कट्टरतावादी और उदारतावादी धाराओं का उल्लेख किया है। हिंदू धर्म की कट्रतावादी धारा के वाहक संघ पर हिटलरी फासीवाद का रंग भी चढ़ा हुआ है। कट्टरता की इस दोहरी शक्ति से युक्त राम के संघावतार को रोकना है, तो धर्मनिरपेक्षतावादी नेताओं और विद्वानों को धर्म की गंभीर समझ विकसित करनी होगी। केवल संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता भर से काम नहीं चलने वाला है। मार्क्सवादी और आधुनिकतावादी नेता और विचारक जहाँ संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता के प्रति समझ और निष्ठा रखते हैं, वहीं उसके जटिल सामाजिक–सांस्कृतिक आयामों की ओर से या तो विमुख होते हैं या भटकावग्रस्त।

धर्म जब तक जनता के जीवन में पैठा है तब तक उसमें निहित उदार अंतर्वस्तु को स्वीकार करते हुए उसका उपयोग आधुनिक जीवन को वैचारिक–दार्शनिक रूप से समृद्ध बनाने का कोई विकल्प नहीं है। कम से कम उसके मानवीय और सांस्कृतिक पक्ष को कुछ प्रेरणा देने के लिए धर्म को आधुनिक विमर्श का हिस्सा बनाया जाना चाहिए। कहने की जरूरत नहीं कि प्राचीन काल से आज तक दर्शन, काव्य और दूसरी ललित कलाएँ धर्म–विद्ध रही हैं। लेकिन धर्मनिरपेक्ष विचारक धर्म को महज निजी जीवन की चीज मानने से ज्यादा महत्व देने को तैयार नहीं हैं। 'धर्म निजी मामला है' यह मान्यता केवल एक–दूसरे के धर्म का सम्मान करने तक ही उपयोगी है। सामाजिक इतिहास बताता है कि धर्म वैसा निजी कभी नहीं रहा और न आज की आधुनिक दुनिया में है। भारत का ही उदाहरण लें तो यहाँ सभी धार्मिक उत्सव सामूहिक होते हैं।

धर्म का भले ही एक अलौकिक आकाश हमेशा बना रहा हो, जमीन पर उसमें सभ्यता के प्रत्येक चरण में अस्तित्ववान विचारधाराओं का ही संघात मिलता है। उससे मुठभेड़ किए बगैर आधुनिकता और प्रगतिशीलता की सम्यक विचारधरा तैयार नहीं की जा सकती। धार्मिकता का घेरा अमीर तबकों के बजाय उन गरीब तबकों के गिर्द ज्यादा सघन रूप में बुना होता है, जिन्हें आधुनिक और प्रगतिशील बनाने के लिए धर्मनिरपेक्षतावादी हलकान रहते हैं।

राजेंद्र यादव ने 'हंस' के अपने एक संपादकीय में आधुनिक भारत के छह मौलिक चिंतकों का उल्लेख किया था : विवेकानंद, अरविंद, गांधी, आचार्य नरेंद्रदेव, राममनोहर लोहिया और (शायद) अंबेडकर। इनमें विवेकानंद और अरविंद नव्यवेदांत के प्रणेता माने जाते हैं। गाँधी निजी जीवन में तो धार्मिक व आस्तिक थे ही, उन्होंने हिंदू धर्म सहित दुनिया के प्राय: सभी प्रमुख धर्मों पर विचार किया था। राजनीति में धार्मिक प्रतीकों का प्रयोग करने के लिए धर्मनिरपेक्षतावादी उनकी आलोचना भी करते हैं। अपने को पचहत्तर प्रतिशत मार्क्सवादी मानने वाले आचार्य नरेंद्रदेव बौद्ध धर्म और दर्शन के निष्णात विद्वान थे। लोहिया नास्तिक थे लेकिन उन्होंने न केवल धार्मिक प्रतीकों—प्रसंगों पर विस्तृत विचार किया है, धर्म और राजनीति के संबंध की भी विवेचना की है। उनका कहना है, ''हिंदू धर्म में उदारता और कट्टरता की इस लड़ाई को खत्म करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि धर्म से ही लड़ा जाए।'' अंबेडकर ने न केवल धर्म पर पर्याप्त चिंतन किया है, उन्होंने हिंदू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म ग्रहण किया।

धर्म को वैचारिक दुनिया से दुत्कार कर धर्मनिरपेक्षता की न तो कोई सम्यक विचारधारा गढ़ी जा सकती है, न ही कट्टरतावादी शक्तियों के खिलाफ कारगर संघर्ष किया जा सकता है। तुलसी के उदार राम को आज अगर नहीं बचाया गया, तो कल की पीढ़ियों के लिए संघ के संकीर्ण राम ही बच रहेंगे। बाकी आस्था प्रतीकों का भी वही हाल होना है। संघ की सूची में मथुरा में कृष्ण और काशी में शिव का नंबर राम के पीछे—पीछे चल रहा है।

धर्मनिरपेक्षता के दावेदार : कितने गाफिल कितने खबरदार!

'गुड़ खाना परंतु गुलगुलों से परहेज करना' – बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार एक बार फिर इस कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं। 2004 के पहले केंद्र में जब अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राजग की सरकार बनी थी तो उसका समर्थन करने और उसमें शामिल होने वाले नीतीश कुमार जैसे नेताओं ने कहा था कि भाजपा की तरफ से 'उदार' वाजपेयी की जगह अगर 'कट्टर' अडवाणी प्रधानमंत्री बनाए जाते तो वे राजग सरकार का न समर्थन करते, न उसमें शामिल होते। धर्मनिरपेक्षता की दावेदारी जताते हुए अपनी इस शर्त का उन्होंने काफी ढिंढोरा पीटा था। हालांकि कुछ समय बाद उसी सरकार में अडवाणी उपप्रधानमंत्री बनाए गए और मंत्री बने नीतीश कुमार ने कोई आपत्ति नहीं उठाई थी। वे पूरे समय राजग सरकार में मंत्री रहे और बिहार में भाजपा के साथ मिल कर बतौर मुख्यमंत्री दूसरी बार सरकार चला रहे हैं। गुजरात कांड उनके लिए घटना से लेकर आज तक कोई मुद्दा नहीं रहा। लेकिन बीच–बीच में नरेंद्र मोदी का व्यक्तिगत विरोध का शगल करते रहते हैं। गोया नरेंद्र मोदी अपने संगठन से अलग कोई बला है!

राजनीतिक सफलता ने नीतीश कुमार को आश्वस्त कर दिया है कि आरएसएस–भाजपा के साथ लंबे समय तक राजनीति करके भी वे धर्मनिरपेक्ष बने रह सकते हैं। यह स्थिति नीतीश कुमार से ज्यादा धर्मनिरपेक्षता के अर्थ पर एक गंभीर टिप्पणी है। मुख्यधारा राजनीति में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ भाजपा के साथ रह कर या भाजपा का भय दिखा कर मुसलमानों के वोट हासिल कर लेना है। जाहिर है, धर्मनिरपेक्षता का यह अर्थ संविधान में प्रस्थापित धर्मनिरपेक्षता के मूल्य के पूरी तरह विपरीत और विरोध में है। भाजपा आरएसएस का राजनैतिक मंच होने के नाते स्वाभाविक रूप से सांप्रदायिक है। भारतीय संविधान के तहत राजनीति करने की मजबूरी में उसे अपनी सांप्रदायिकता को ही सच्ची धर्मनिरपेक्षता प्रचारित करना होता है। दूसरे शब्दों में, एक राजनीतिक दल के रूप में भाजपा संविधान के साथ धोखाधड़ी करती है। लेकिन भाजपा के साथ या उसका भय दिखा कर मुस्लिम वोटों की राजनीति करने वाले दल और नेता भी संविधान के साथ वही सलूक करते हैं।

कहने का आशय है कि पिछले 25 साल की राजनीति में धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को जो लगातार ठोकरें खानी पड़ रही हैं, उसके लिए अकेले सांप्रदायिक ताकतों को दोष नहीं दिया जा सकता। सांप्रदायिकता उनका 'धर्म' है। इसमें धर्मनिरपेक्ष ताकतों का दोष ज्यादा है, क्योंकि वे धर्मनिरपेक्षता की दावेदार बन कर उसका अवमूल्यन करती हैं। यह परिघटना राजनीति से लेकर नागरिक समाज तक देखी जा सकती है। और असली खतरा यही है।

नरेंद्र मोदी का विरोध करने पर आरएसएस ने भले ही नीतीश कुमार को धता बताई हो, लेकिन नीतीश कुमार आरएसएस की बढ़ती का ही काम कर रहे हैं। आरएसएस शायद यह जानता भी है। उसने सेकुलर नेताओं और बुद्धिजीवियों को अपने 'आंतरिक झगड़े' में उलझा

लिया है। वह नरेंद्र मोदी पर दांव लगा कर अडवाणी के प्रधानमंत्री बनने का रास्ता साफ कर रहा है। जैसे अडवाणी के सामने वाजपेयी 'उदार' हुआ करते थे, वैसे अब नरेंद्र मोदी के मुकाबले अडवाणी उदार बन जाएंगे। आगे चल कर जब 'गुजरात का शेर' अडवाणी जैसा नखदंतहीन बूढ़ा हो जाएगा तो उसके प्रधानमंत्री बनने का रास्ता भी साफ होगा। क्योंकि तब तक हिंदुत्व का कोई और नया शेर आरएसएस में पैदा हो चुका होगा। खुद मोदी उस तरह के कई शेरों के साथ प्रतियोगता करके अव्वल आए हैं। जब मोदी को गुजरात का मुख्यमंत्री बनाया गया था तो उनसे पहले उस समय कट्टरता के मामले में उनसे कहीं ज्यादा प्रख्यात प्रवीण तोगड़िया का नाम था। मोदी ने उन्हें पछाड़ कर मुख्यमंत्री का पद हासिल किया था। यह जानकारी अक्सर दोहराई जाती है कि मोदी की कट्टरता से वाकिफ 'उदार' वाजेपयी ने आरएसएस–भाजपा को आगाह किया था। साथ ही यह कि गुजरात कांड के मौके पर वाजपेयी ने मोदी को राजधर्म निभाने की नसीहत दी थी। लेकिन होने वही दिया जो हुआ। आरएसएस की 'उदारता' की बस इतनी ही सिफत है।

आरएसएस यह जानता है कि मनमोहन सिंह के बाद देश के पूंजीपतियों की पहली पसंद नरेंद्र मोदी हैं। खुद मनमोहन सिंह के वे चहेते हैं। नरेंद्र मोदी को भी अपनी हिंदुत्ववादी हुंकार के साथ सबसे ज्यादा भरोसा पूंजीपतियों का है। वे पूंजीपतियों के बल पर इठलाते हैं। पूंजी के पैरोकार इधर लगातार कह रहे हैं कि गुजरात कांड अब सभी को भुला देना चाहिए। उनका तर्क है इससे देश के विकास में बाधा पैदा हो रही है। यानी मोदी ने गुजरात को विकास का मरकज बना दिया है। अब उन्हें देश के विकास की बागडोर सौंप देनी चाहिए। विदेशी पूंजी को मुनाफे से मतलब होता है। वह मुनाफा मनमोहन सिंह कराएं या मोदी, इससे विदेशी पूंजी को सरोकार नहीं है। इसलिए हो सकता है मोदी को अडवाणी जैसा लंबा इंतजार न करना पड़े। दरअसल, यह खुद नरेंद्र मोदी के हक में है कि वे इस बार अडवाणी को प्रधानमंत्री के उम्मीदवार के रूप में आगे रहने दें। वे रहने भी दे सकते हैं। फिलहाल वे जो फू–फां वे कर रहे हैं, वह भविष्य के कतिपय दूसरे दावेदारों को दूर रखने के लिए है।

आरएसएस के भीतर कट्टरता और उदारता का यह द्वंद्वचलते रहना है। भारतीय समाज की बहुलताधर्मी बनावट के चलते आरएसएस के लिए अपने भीतर इस तरह का द्वंद्वबनाए रखना जरूरी है। इससे गतिशीलता का भ्रम तो रहता ही है; ऊर्जा भी मिलती है। अडवाणी नीत उग्र राममंदिर आंदोलन ने आरएसएस–भाजपा कार्यकर्ताओं में अपूर्व ऊर्जा का संचार किया। मस्जिद टूटी, दंगे हुए, मुस्लिम अलगाववाद बढ़ा और अंत में 'उदार' वाजपेयी प्रधानमंत्री बने। मस्जिद ध्वंस के 10 साल बाद हुए गुजरात कांड ने भी आरएसएस–भाजपा कार्यकर्ताओं में नई ऊर्जा का संचार किया। उस ऊर्जा का रूप भयानक था। उसकी फसल 'उदार' अडवाणी काट सकते हैं। हिंदू धर्म का बाजार में जो तमाशा बन रहा है, उसके चलते कभी ऐसा हो सकता है कि हिंदू धर्म की वास्तवकि उदार धारा आरएसएस की छद्म उदारता से भ्रमित (कन्फ्यूज) हो जाए। आरएसएस की वह बड़ी जीत होगी।

आरएसएस जितनी आरामदायक स्थिति में आज है, वैसा कभी नहीं रहा। समाज में उसकी व्यापक स्वीकृति और प्रभाव है जो निरंतर बढ़ता जा रहा है। राजनीति में तथाकथित सेकुलर पार्टियां और नेता तथा गैर–राजनीतिक सिविल सोसायटी आंदोलन उसमें मदद कर रहे हैं। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के दोनों सितारे – अन्ना हजारे और रामदेव – नरेंद्र मोदी और आरएसएस के प्रशंसक ही नहीं हैं; यह पूरा आंदोलन फासीवादी–तानाशाही रुझान लिए है। (आंदोलन के इस तरह के चरित्र का विस्तृत विश्लेषण हमने 'युवा संवाद' में लिखे कई लेखों में किया है। ये लेख अब वाणी प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'भ्रष्टाचार विरोध : विभ्रम और यथार्थ' में संकलित हैं) आरएसएस के लिए इससे ज्यादा मुफीद क्या होगा कि अनेक छोटी–बड़ी सेकुलर हस्तियां इस आंदोलन की कहार बनी हुई हैं। धर्म का राजनैतिक इस्तेमाल सांप्रदायिकता का मुख्य किंतु अपूर्ण अर्थ है। धर्म को बाजार के भाव बेचना और समाज को अंधविश्वासों में झोंकना भी सांप्रदायिकता में शामिल है। इस भरे–पूरे अर्थ में सांप्रदायिकता का कारोबार जितना भरपूर आज चल रहा है, भारत में पहले कभी नहीं चला।

इसे थोड़ा और पीछे जाकर देखें। देश की सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस सांप्रदायिक कार्ड खेलती है तो वह भी आरएसएस का ही काम करती है। कांग्रेस ऐसा एक बार नहीं, अनेक बार करती है। समाजवादी पार्टी से बाहर आने पर बेनीप्रसाद वर्मा ने बताया था कि जब बाबरी मस्जिद का ध्वंस हो रहा था तो उन्होंने मुलायम सिंह को कहा था कि समाजवादी पार्टी को आगे बढ़ कर इसका विरोध करना चाहिए। लेकिन, बेनीप्रसाद वर्मा के मुताबिक, मुलायम सिंह ने यह कहते हुए हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया कि मस्जिद ध्वंस से उनकी पार्टी की ताकत मजबूत होगी। बाद में मस्जिद ध्वंस के नायक कल्याण सिंह के साथ उन्होंने सरकार बनाई और भाजपा–आरएसएस का बखूबी सहारा लिया। फरवरी 2002 में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में मुसलमानों के राज्य प्रायोजित खुले नरसंहार पर कुछ कट्टर आरएसएस वालों ने भी दांतों तले उंगलियां दबा ली थीं। लेकिन उसके बाद होने वाले गुजरात विधानसभा चुनाव में मायावती नरेंद्र मोदी का चुनाव प्रचार करने गुजरात गई थीं। उन्होंने मोदी के साथ एक मंच से उन्हें जिताने की अपील की थी। क्योंकि यूपी में उन्हें भाजपा के साथ सरकार बनानी थी।

लोक जनशक्ति पार्टी के अध्यक्ष रामविलास पासवान वाजपेयी सरकार में मंत्री थे। भारत की राजनीति में झूठ बोलना बुरा नहीं, कला माना जाता है। पासवान गुजरात कांड के बाद बाकायदा राजग सरकार में बने रहे। उन्होंने दलित राजनीति में अपनी प्रतिद्वंद्वी मायावती को यूपी में समर्थन न देने के लिए भाजपा पर दबाव डाला। भाजपा के उनकी बात न स्वीकार करने पर उन्होंने वाजपेयी सरकार से इस्तीफा दिया। जबकि वे पाकिस्तान तक कह आए हैं कि उन्होंने गुजरात कांड के विरोध में इस्तीफा दिया था। उड़ीसा में ग्राहम स्टेंस और उनके बच्चों को जिंदा जलाने पर जॉर्ज फर्नांडीज ने संसद में आरएसएस का बचाव किया था। राजग सरकार में शामिल रहे तेलुगु देशम के अध्यक्ष चंद्रबाबू नायडू को भी सांप्रदायिक भाजपा से कोई आपत्ति नहीं रही है। तृणमूल कांग्रेस, बीजू जनता दल, अन्ना द्रमुक, द्रमुक, जनता दल (सेकुलर) असम गण परिषद, लोकदल, नेशनल कांफ्रेंस आदि धर्मनिरपेक्ष माने जाने वाले दल और उनके

नेता बिना झिझक आरएसएस–भाजपा के सहयोगी बनते हैं।

जीवन की तरह राजनीति में भी तात्कालिक के साथ दूरगामी लक्ष्य निर्धारित होते हैं। आरएसएस और इन तथाकथित धर्मनिरपेक्ष दलों में फर्क यह है कि ये दल महज सरकार बनाने अथवा सत्ता में हिस्सेदारी करने के तात्कालिक लक्ष्य से परिचालित होते हैं। जबकि आरएसएस के लिए सरकार बनाने, राजनीतिक सत्ता पाने से ज्यादा समाज में अपनी विचारधारा फैलाना महत्वपूर्ण है। हाल के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन में वह भाजपा की अगली सरकार बने, इससे ज्यादा इसलिए शरीक है कि समाज में उसकी वैधता बढ़ रही है और विचारधारा भी।

भाजपा के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार के बतौर नरेंद्र मोदी की जगह अडवाणी का नाम आएगा तो नीतीश कुमार उसे अपनी जीत बताएंगे। लेकिन, जैसा कि ऊपर बताया गया है, वह आरएसएस की जीत होगी। और भी, अडवाणी आएंगे तो सिविल सोसायटी आंदोलन के कई सेकुलर नेता सरकार या उसे बनाने और चलाने के इंतजाम में शामिल हो सकते हैं। यह तर्क देते हुए कि उन्होंने कट्टर नरेंद्र मोदी को आगे नहीं आने दिया। नीतीश कुमार जैसे 'धर्मनिरपेक्ष' नेता उनका स्वागत करने के लिए पहले से वहां मौजूद होंगे। उदाहरण के लिए, राजग की सरकार बनने पर, अपने पिता का इतिहास दोहराते हुए प्रशांत भूषण बहुत विनम्रतापूर्व कानून मंत्री बन सकते हैं। उस सरकार अथवा इंतजाम में अडवाणी के विश्वासभाजन अरविंद केजरीवाल का भी ऊंचा मुकाम होगा। रामदेव से राष्ट्रीय स्वाभिमान का पाठ पढ़ने वाले पूर्व के कुछ जनांदोलनकारी और विकल्पवादी भी उसमें कुछ न कुछ काम का पा जाएंगे। कहने की जरूरत नहीं, अन्ना हजारे और रामदेव उस सरकार के नैतिक प्रतीक और प्रेरणास्रोत होंगे।

अभी तक के अनुभव से कह सकते हैं पिछले 25 सालों का नवउदारवाद सबसे ज्यादा आरएसएस को फला है। इन दोनों – नवउदारवाद और संप्रदायवाद – ने मिल कर सबसे ज्यादा नुकसान भारतीय संविधान का किया है। इस दौरान संविधान के नीति–निर्देशक तत्व किसी भी राजनीतिक पार्टी और नेता के लिए प्रेरक नहीं रहे हैं। देश के संसाधनों को उसकी मेहनतकश जनता के अधिकार से छीन कर देशी–विदेशी मुनाफाखोर कंपनियों को मोटी रिश्वतें खा कर बेचा जा रहा है। शिक्षा से लेकर सुरक्षा तक की व्यवस्था को पूंजीवादी सांचे में ढाला जा रहा है। आबादी के अधिकांश हिस्से को नवउदारवादी नीतियों के उच्छिष्ट पर जिंदा रहने के लिए मजबूर कर दिया गया है। यहां तक कि मौलिक अधिकारों पर गहरा संकट आ पड़ा है। बोलने की आजादी छीन ली गई है। पूंजीवादी सत्ता के खिलाफ बोलने वालों पर देशद्रोह के मुकदमे दायर किए जा रहे हैं और सजाएं सुनाई जा रही हैं। इसके खिलाफ न राष्ट्रपति चुनाव की बहस में कोई पक्ष है, न दो साल बाद चुने जाने वाले प्रधानमंत्री पर होने वाली बहस में। भारत की प्रगतिशील राजनीति नवउदारवाद और उसकी घुट्टी पीकर और ज्यादा बलवान बने संप्रदायवाद के सामने झुक गई है। नीतीश कुमार जैसे आत्मव्यामोह में गाफिल नेता शायद यह सच्चाई देख ही नहीं पा रहे हैं। तभी उन्हें अपने टके के बोल सोने के लगते हैं – 'गोल्डन वर्ड्स कैन नॉट बी रिपीटिड!'

एक समय माना गया था कि जातिवादी राजनीति सांप्रदायवादी राजनीति की काट करती है। उसे सामाजिक न्याय की राजनीति का अच्छा–सा नाम भी दिया गया था। लेकिन अब स्पष्ट हो चुका है कि तथाकथित सामाजिक न्याय की राजनीति सांप्रदायिक राजनीति की काट नहीं है। बल्कि उसे बढ़ाने का काम करती है।

ताकि मोदी भी जीत जाए और मुसलमानों का वोट भी मिल जाए!

आम आदमी पार्टी को दिल्ली विधानसभा चुनाव में मुस्लिम बहुल सीटों पर कामयाबी नहीं मिल पाई। इस दिशा में हालांकि उसने उम्मीदवारों की ज्यादा से ज्यादा आर्थिक सहायता समेत काफी प्रयास किए थे। इस्लामी तंजीमों व इदारों के कई प्रमुखों से मुसलमानों के वोट पाने के लिए मुलाकात करते हुए 'आप' सुप्रीमो बरेली के मौलवी तौकीर रजा खान तक पहुंचे थे। 'आप' को मुस्लिम उम्मीदवार, जो कि भाजपा को भी मिल जाते हैं, आसानी से मिल गए, लेकिन मुस्लिम मतदाताओं को रिझाने में उसे कामयाबी नहीं मिली। इससे पता चलता है कि मुस्लिम समाज की राजनीति को लेकर सोच देश के मुख्यधारा नागरिक समाज से काफी अलग है। भले ही नई राजनीति के दावेदार और पैदा होते ही ऊंची उड़ान भरने को बेताब 'आप' के नेता, इंडिया अगेंस्ट करप्शन (आईएसी) टीम के अपने एक हमजोली चेतन भगत की तरह, उस सोच को दकियानूसी और ठहरी हुई मानते हों।

पिछले करीब तीन दशकों में देश की ज्यादातर मुख्यधारा राजनीतिक पार्टियां जहां नवउदारवाद की एजेंट की भूमिका में उतर चुकी हैं, 'आप' सीधे नवउदारवाद का उत्पाद है। अस्सी के दशक से भारतीय संविधान की अवहेलना करते हुए नवउदारवाद और संप्रदायवाद का गठजोड़ बनने लगा था। 1991 में नई आर्थिक नीतियों के लागू किए जाने और 1992 के अंतिम महीने में बाबरी मस्जिद के ध्वंस के साथ यह गठजोड़ मजबूत हो गया। तब से वह उत्तरोत्तर मजबूत होता जा रहा है। इस गठजोड़ के नए अवतार 'आप' ने जो हल्ला दिल्ली में बोला, उसे अकेले दिल्ली की ज्यादातर मुस्लिम आबादी ने चुनौती दी है। लिहाजा, 'आप' के लिए यह चिंता का सबसे बड़ा सबब है और उसने लोकसभा चुनाव में मुसलमानों का वोट हासिल करने के लिए अलग से 'स्पेशल टास्क फोर्स' का गठन किया है।

'आप' नेतृत्व भी अन्य ज्यादातर राजनीतिक पार्टियों की तरह मुसलमानों को नागरिक से पहले वोट बैंक मानते हैं, यह तभी स्पष्ट हो गया था जब दिल्ली विधानसभा चुनाव के पूर्व उसने 'खास' मुसलमानों को 'आप' में शामिल करने की खास मुहिम चलाई थी। स्पेशल टास्क फोर्स का गठन 'आप' नेतृत्व द्वारा मुसलमानों को अलग से वोट बैंक मानने की धारणा की एक बार फिर पुष्टि करता है। जो लोग 'आप' की सफलता में नई राजनीति की सफलता मान रहे हैं, वे यह छिपा लेते हैं कि यह 'नई' राजनीति भी देश की आबादी को धर्मों और जातियों में बांट कर देखती है। दिल्ली विधानसभा में उसने 12 में से 9 सुरक्षित सीटें जीत लीं, लेकिन एक भी दलित उम्मीदवार सामान्य सीट से खड़ा नहीं किया। उसका अगला घोषित लक्ष्य हरियाणा है, जहां उसने जाति समीकरण की राजनीति तेजी से शुरू कर दी है। हरियाणा की जाट डोमीनेटेड राजनीति में यादव मुख्यमंत्री बनाने के लिए सबसे पहले और सबसे ज्यादा जोर जाटों की भर्ती पर दिया गया। 'स्वच्छ राजनीति' करके राजनीतिक महत्वाकांक्षा पूरा करने के इच्छुक कतिपय जाटों में 'आप' में शामिल होने की होड़ भी मच गई थी। शायद इस आशा में कि विधानसभा

चुनाव में जीत सुनिश्चित करने के लिए आगे चल कर हो सकता है किसी जाट का नाम ही मुख्यमंत्री के लिए तय किया जाए! हालांकि हरियाणा में 'आप' का धंधा जिस तेजी से जमा था, उसी तरह मंदा भी पड़ गया है।

बहरहाल, सेकुलर कही जाने वाली अन्य राजनीतिक पार्टियों की तरह 'आप' भी हिंदुओं को साथ रखते हुए मुसलमानों को मोदी का भय दिखा कर अपने साथ करना चाहती है। यह मुस्लिम अवाम पर निर्भर है कि वह 'आप' के साथ भी वैसा ही रिश्ता बनाती है, जैसा उसने अन्य सेकुलर पार्टियों के साथ बनाया हुआ है। इस रिश्ते के तहत मुसलमान भाजपा को हराने में सक्षम अन्य किसी भी पार्टी के उम्मीदवार को वोट देते हैं। जिंदगी की सुरक्षा और जीविका के मद्देनजर उनका वह फैसला गलत नहीं होता। 'आप' चूंकि संघर्ष से नहीं, स्ट्रेटेजी से चलने वाली पार्टी है, इसलिए उसका नेतृत्व न नवउदारवाद पर कोई साफ पक्ष रखता है, न सांप्रदायिकता के सवाल पर। गफलत बनाए रख कर जल्दी से जल्दी चुनावी सफलताएं हासिल करना उसका एकमात्र ध्येय है। सभी समुदायों/तबकों का वोट पाने की नीयत से परिचालित इस पार्टी के स्वाभाविक तौर पर कई मुंह देखने में आते हैं। लोकसभा चुनावों में सफलता पाने की बेचैनी के चलते उसकी अनेकमुखता आरएसएस को भी मात करती नजर आती है!

आरएसएस के इंतजाम में होने वाले भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के समय से ही 'आप' में बड़ी संख्या में नवउदारवादी और सांप्रदायिक तत्व मौजूद हैं। दिल्ली विधानसभा चुनाव के पहले भाजपा–कांग्रेस और सपा–बसपा के कई नेता उसमें शामिल हुए। दिल्ली चुनाव में सफलता और सरकार गठन के बाद 'आप' में तरह–तरह के सत्ता–लोलुप तत्वों की भरमार हो गई। पार्टी सदस्यता का जैसा बाजार 'आप' ने खोला है, पूरी दुनिया में उसका उदाहरण नहीं मिलता। ऐसे मंजर में मुसलमानों के लिए यह तसल्ली झूठी है कि वहां कई सेकुलर चेहरे मौजूद हैं। उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि नवउदारवादी कभी भी सच्चा धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। मुसलमान यह सच्चाई भी सामने रखें कि 'आप' से कहीं ज्यादा धर्मनिरपेक्ष नेता पहले से अलग–अलग पार्टियों में मौजूद हैं, जो मुसलमानों का वोट लेकर भाजपा के साथ सरकारें बनाने में नहीं हिचकते। 'आप' भी मुसलमानों का वोट लेकर भाजपा के साथ सरकार बना सकती है। 'आप' के एक धर्मनिरपेक्ष नेता प्रशांत भूषण दिल्ली में कांग्रेस के बजाय भाजपा के सहयोग से सरकार बनाने की वकालत कर चुके हैं। साथ ही, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीएम) को भ्रष्ट बताने का 'उच्च विचार' भी उन्होंने व्यक्त किया है। एक अन्य धर्मनिरपेक्ष नेता योगेंद्र यादव ने सीपीएम को अवसरवादी बताते बताते हुए उसके साथ किसी तरह के गठबंधन से इंकार किया है। जब सीपीएम के प्रति ऐसा कड़ा रुख है तो अपने को सामाजिक न्यायवादी और धर्मनिरपेक्ष कहने वाली कुछ क्षेत्रीय पार्टियों के साथ 'आप' का तालमेल बैठने का सवाल नहीं उठता। कांग्रेस 'आप' की पहले नंबर की शत्रु है ही। ऐसे में भाजपा ही 'आप' की स्वाभाविक सहयोगी पार्टी हो सकती है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ज्यादातर मार्क्सवादियों समेत धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवी, राजनीतिक कार्यकर्ता, जनांदोलनकारी और सिविल सोसायटी एक्टिविस्ट मुसलमानों को

'आप' के पाले में धकेलने की कोशिश कर रहे हैं। जाहिर है, ये सभी मुसलमानों को वोट बैंक मानते हैं। उन्हें कामयाबी भी मिल रही है। उनकी मुहिम से मुस्लिम संगठनों के कुछ प्रमुख प्रभावित होते नजर आते हैं। वे 'आप' को भी सेकुलर खेमे की पार्टी बता कर उसके उम्मीदवारों को जिताने की बात करते नजर आते हैं। हमारा कहना है कि धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य पर गंभीर संकट के इस दौर में देश की सबसे बड़ी अकलियत को सोच–समझ कर अपना फैसला करना चाहिए। मुसलमानों, और बाकी अल्पसंख्यंकों के लिए भी, यह केवल बहस का नहीं, जीवन–मरण का सवाल है। क्योंकि सांप्रदायिक राजनीति का कहर सबसे ज्यादा अल्पसंख्यकों पर ही टूटता है। सांप्रदायिक ताकतें इस कदर मजबूत हो गई हैं कि उत्तर प्रदेश में धर्मानिरपेक्ष समाजवादी पार्टी (सपा) की सरकार के शासन काल में एक के बाद एक सांप्रदायिक दंगे हो रहे हैं।

नवउदारवाद के साथ सांप्रदायिकता बेतहाशा बढ़ी है। सभी धर्मों में उदारता का नहीं, कट्टरता का जोर बढ़ता जा रहा है। 'आप' का विचारधारा निरपेक्ष रुख – 'न लेफ्ट न राइट' – कट्टरतावादी ताकतों को ही मजबूत करेगा; चाहे वे बाजार की हो या धर्म की। इसका ताजा प्रमाण है जब दिल्ली में जीत के बाद शपथ ग्रहण के नाम पर 'चमत्कार, ईश्वरीय कृपा, जश्न, हवन और वंदे मातरम' हो रहा था, 100 किलोमीटर की दूरी पर मुजफ्फर नगर–शामली जिलों के 185 गांवों में सांप्रदायिक हिंसा में 60 से ज्यादा लोग मारे और 60 हजार से ज्यादा उजाड़े जा चुके थे। महीनों बाद उनमें से हजारों अभी भी अपने घरों को लौटने के लिए तैयार नहीं हैं। सैफई महोत्सव का जश्न मनाने के धत्कर्म के लिए सपा सरकार की सही भर्त्सना की गई। लेकिन भर्त्सना करने वालों को दिल्ली के जश्न पर जरा भी ग्लानि नहीं हुई। दिल्ली की नई सरकार का जो शपथ–ग्रहण समारोह कुछ हजार रुपये के खर्च में उपराज्यपाल भवन में सादगी से हो सकता था, वह करोड़ों रुपये खर्च करके गाजे–बाजे के साथ रामलीला मैदान में किया गया। 'आप' की चुनावी सफलता से हुए 'फील गुड' में नए साल का जश्न कुछ ज्यादा ही जोरशोर से दिल्ली और देश के अमीरों ने मनाया। मोदी को रोकने के दावेदार दंगा–प्रभावित इलाके में झांकने तक नहीं गए। अलबत्ता वहां सदस्यता अभियान चला कर राजनीतिक रोटियां सेंकने में जरूर आगे हैं।

मुसलमानों को 'आप' के पक्ष में दिए जाने वाले धर्मनिरपेक्षतावादियों के तर्कों को गंभीरता से परखने की जरूरत है। मोदी और उनकी विचारधारा के खिलाफ कभी एक शब्द नहीं बोलने वाले शख्स को धर्मनिरपेक्षतावादी मोदी की काट बताते हैं। यह तर्क कि अरविंद केजरीवाल ने मोदी की चमक फीकी कर दी है, धर्मनिरपेक्षतावादियों के लिए आड़ हो सकता है; देश की सबसे बड़ी अकलियत अगर इस तर्क को स्वीकार करेगी तो उसका भला नहीं होगा। इस तर्क के सहारे 'आप' से भी कुछ मुसलमान जीत कर संसद व विधानसभाओं में पहुंच सकते हैं। लेकिन उससे धर्मनिरपेक्षता नहीं, सांप्रदायिक फासीवाद मजबूत होगा। अभी देख सकते हैं कि मोदी की चमक फीकी नहीं पड़ कर और तेज हुई है। केजरीवाल की खुद की चमक मोदी पर

निर्भर है।

हम मुसलमानों से कहना चाहते हैं कि मोदी एक नाम भर नहीं है, जिसे रोकने की ताल ठोंकी जा रही है। मोदी इस बार हार भी जाए तो सांप्रदायिक फासीवाद का बढ़ना नहीं रुकेगा। आरएसएस की कट्टर धारा किसी न किसी नेता में मूर्तिमान होती है। इस बार मोदी उसके सबसे बड़े प्रतिनिधि बन कर उभरे हैं। अडवाणी की कट्टरता से मोदी की कट्टरता इस मायने में अलग और मजबूत है कि मोदी कारपोरेट घरानों का भी कट्टर सेवक है। यह पाठ उसने मनमोहन सिंह से पढ़ा है। इस कट्टर धारा के सार पर ध्यान देने की जरूरत है। वह वही है जो अभी छोटे पैमाने पर केजरीवाल में मिलती है। केजरीवाल नरेंद्र मोदी का ही एक छोटा उपग्रह है। तभी जिस कारपोरेट जगत और मीडिया ने मोदी को 'अगला प्रधानमंत्री' बनाया है, वही केजरीवाल को भी सिर पर उठाए हुए है।

मोदी और केजरीवाल में छोट–बड़ाई का ही फर्क है, इसके कुछ ठोस प्रमाण देखे जा सकते हैं। गुजरात का तीसरा विधासभा चुनाव मोदी ने आसानी से जीत लिया। वहां 2002 में हुए राज्य–प्रायोजित नरसंहार के समय से ही बहुत–से लोग और संगठन पीड़ितों को न्याय दिलाने की जद्दोजहद में लगे हैं। देश बचाने का दिन–रात ढोल पीटने वाले केजरीवाल और उनके कारिंदे वहां एक शब्द नहीं बोले। आज भी केजरीवाल मोदी के विकास के दावों पर सवाल उठाते हैं, जो अन्य कई कोनों से उठाए जा चुके हैं। गुजरात दंगों में बतौर मुख्यमंत्री मोदी की संलिप्तता और उसे छिपाने के षड़यंत्रों पर जबान नहीं खोलते। उनके गुरु अण्णा हजारे और उनकी खुद की बाबरी मस्जिद ध्वंस के संविधान और सभ्यता विरोधी कृत्य पर कोई टिप्पणी कम से कम हमें नहीं मिलती। जिन अण्णा हजारे को केजरीवाल रालेगण सिद्धि से उठा कर दिल्ली लाए थे उन्होंने जंतर मंतर से पहली प्रशंसा मोदी की की थी। मोदी ने तुरंत पत्र लिख कर उनका आभार जताया था। साथ ही अण्णा को आगाह किया था कि उनके विरोधी उनको उनसे विमुख करने की कोशिश करेंगे। कुछ धर्मनिरपेक्षतावादियों ने बात को संभालने की कोशिश की, लेकिन केजरीवाल ने जरा भी मुंह नहीं खोला।

इंडिया अगेंस्ट करप्शन (आईएसी) के एक महत्वपूर्ण सदस्य चेतन भगत आरएसएस के मोदी के पक्ष में किए गए फैसले से काफी पहले से देश–विदेश में उनके प्रचार में जुटे थे और आज भी वहीं काम कर रहे हैं। इधर वे मुस्लिम युवाओं को मोदी का पाठ पढ़ाने की कोशिशें कर रहे हैं। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के एक प्रमुख नेता और केजरीवाल के हमजोली रामदेव का 'साहित्य' और 'वाणी' किसी से छिपे नहीं हैं। रामदेव ने मोदी को अपने आश्रम में बुला कर हिंदुओं का नेता घोषित किया। केजरीवाल ने उस पर भी जबान नहीं खोली। 2006 में आई जस्टिस सच्चर कमेटी की रपट और सिफारिशों का विरोध अकेले आरएसएस–भाजपा ने किया है। यह रपट राजनीति का एक केंद्रीय मुद्दा बनी हुई है। सभी राजनीतिक पार्टियां रपट की सिफारिशों को किसी न किसी रूप में लागू करने की वकालत करती हैं। लेकिन केजरीवाल ने उस रपट पर भी आज तक मुह नहीं खोला है। कह सकते हैं कि 2006 से भारत की राजनीति में

मुद्दा बनी इस रपट पर 'आप' भाजपा के साथ खड़ी है। केजरीवाल समेत फोर्ड फाउंडेशन पालित 'आप' का नेतृत्व अमेरिका–इजरायल की धुरी से संचालित नवसाम्राज्यवाद के खिलाफ कभी एक शब्द नहीं बोलता।

केजरीवाल का वाराणसी से मोदी के खिलाफ चुनाव लड़ने का फैसला रणनीतिगत है। 'आप' का मेकअप बहुत हद तक उतर जाने के बाद बिना मुस्लिम मतदाताओं के 'आप' उम्मीदवारों का चुनाव जीतना नामुमकिन है। खास कर दिल्ली में। लोकसभा चुनाव में 'आप' को सफलता नहीं मिलती है तो पार्टी बिखर जाएगी। सभी अपने–अपने पुराने ठीयों पर चले जाएंगे। बिना सरोकार और विचारधारा की पार्टी चुनावी जीत के सहारे ही टिकी रह सकती है। ऐसी पार्टी की चुनावी सफलता नित नई स्ट्रेटेजी पर निर्भर होती है। इसीलिए वाराणसी से मोदी के खिलाफ चुनाव लड़ने की स्ट्रेटेजी बनाई गई है। ताकि मोदी भी जीत जाए और 'आप' उम्मीदवारों को मुसलमानों का वोट भी मिल जाए।

हमने यह बताया था कि दिल्ली में 'आप' और भाजपा की जीत साझा थी। दिल्ली में केजरीवाल के मुख्यमंत्री बनने पर एक युवक ने 'दिल्ली को केजरीवाल दिया देश को मोदी देंगे' संदेश का पोस्टर लगवाया था। लोकसभा चुनाव में येन–केन–प्रकारेण जीत हासिल करने के लिए बेचैन 'आप' के नेता मुसलमानों को इस साझा अभियान में खींचना चाहते हैं। इतिहास में यह ऐसा मौका आया है जब बहुसंख्यक नहीं, अल्पसंख्यक समाज को देश का तकदीर तय करनी है। ऐसे में यह देखना रोचक होगा कि वास्तविक समाजवाद और धर्मनिरपेक्ष ताकतों को पीछे धकेल कर नवउदारवादी और सांप्रदायिक ताकतों का रास्ता प्रशस्त करने वाली 'आप' के बारे में मुस्लिम अवाम क्या फैसला करती है?

पुनश्च

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि नागरिक समाज के कुछ लोग और संगठन बनारस में 'आप' सुप्रीमो अरविंद केजरीवाल का समर्थन धर्मनिरपेक्षता के नाम पर कर रहे हैं। इधर 'मोदी विरोधी' राजनीतिक पार्टी जनता दल यूनाइटेड ने भी केजरीवाल के समर्थन की घोषणा की है। यह बिल्कुतल साफ है कि केजरीवाल को दिया जाने वाला समर्थन वास्तविकता में नरेंद्र मोदी का समर्थन है। केजरीवाल के समर्थन से वाराणसी में मोदी को चुनाव में सीधा फायदा तो होगा ही, नवउदारवादी और सांप्रदायिक शक्तियों के गठजोड़ को भी नई ताकत मिलेगी। कारपोरेट पूंजीवाद ने कांग्रेस का भरपूर इस्तेमाल करने के बाद आगे देश के संसाधनों की लूट के लिए नरेंद्र मोदी को अपना मोहरा बनाया है। मोदी के साथ और मोदी के बाद के लिए कारपोरेट घराने केजरीवाल को आगे बढ़ा रहे हैं, ताकि देश में कारपोरेट विरोध की राजनीति हमेशा के लिए खत्म की जा सके।

जिस तरह कांग्रेस और भाजपा एक सिक्के के दो पहलू हैं, वही सच्चाई मोदी और केजरीवाल की भी हैा दोनों कारपोरेट पूंजीवाद के सच्चे सेवक हैं। आरएसएस की विचारधारा का पूंजीवाद से कभी विरोध नहीं रहा है। एनजीओ सरगना अरविंद केजरीवाल सीधे कारपोरेट

की कोख से पैदा हुए हैं। वे विदेशी धन लेकर एनजीओ की मार्फत लंबे समय से 'समाज सेवा' का काम कर रहे हैं। लेकिन उन्होंने 1984 के सिख विरोधी दंगों, 1992 में बाबरी मस्जिद ध्वंस, 2002 में गुजरात में होने वाले मुसलमानों के राज्य प्रायोजित नरसंहार, हाल में मुजफ्फर नगर में हुए दंगों जैसे सांप्रदायिक कृत्यों का विरोध तो छोड़िए, उनकी निंदा तक नहीं की है। गुजरात के 'विकास की सच्च ई', जिसे बता कर वे मोदी के विरोध का ढोंग करते हैं, कितने ही विद्वान और आंदोलनकारी काफी पहले वह बता चुके हैं। केजरीवाल के द्वारा इंडिया अगेंस्ट करप्शन बना कर चलाए गए भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन में आरएसएस पूरी तरह शामिल था। उनके गुरु अण्णा हजारे ने सबसे पहले नरेंद्र मोदी की प्रशंसा की थी। रामदेव और रविशंकर जैसे 'संत' केजरीवाल के हमजोली थे। आज भी 'आप' पार्टी में आरएसएस समेत सांप्रदायिक तत्वों की भरमार है। बनारस में धर्म और राजनीति का जैसा घालमेल नरेंद्र मोदी कर रहे हैं, वैसा ही केजरीवाल कर रहे हैं।

इस सबके बावजूद कुछ धर्मनिरपेक्षतावादी उन्हें अपना नेता मान रहे हैं तो इसलिए कि कांग्रेस के जाने पर उन्हें एक नया नेता चाहिए जो उनके वर्गस्वार्थ का कांग्रेस की तरह पोषण करे। राजनीति की तीसरी शक्ति कहे जाने वाली पार्टियों और नेताओं को यह भद्रलोक पसंद नहीं करता। इनमें से कुछ कम्युनिस्ट पार्टी का शासन तो चाहते हैं, लेकिन उसकी संभावना उन्हें नजर नहीं आती। साम्यवादी क्रांति के लिए संघर्ष भी ये नहीं करना चाहते, या पहले की तरह संस्थानों पर कब्जा करके करना चाहते हैं। लिहाजा, मध्यवर्ग के स्वांर्थ की राजनीति का नया नायक केजरीवाल है।

'आप' से नहीं बचेगी धर्मनिरपेक्षता

इस लेख के लिए हम पर कई सेकुलर साथियों का कोप और तेज होगा। हम यह नहीं लिखते यदि पिछले करीब एक महीने में कई साथियों ने फोन पर और ईमेल भेज कर हमसे दिल्ली के विधानसभा चुनाव में आम आदमी पार्टी का समर्थन करने को नहीं कहा होता। उनमें कई वरिष्ठ साथी ऐसे हैं जिनका हम सम्मान करते हैं। 'आप' के समर्थन का आग्रह करने वाले ज्यादातर साथी अरविंद केजरीवाल में मोदी की काट देखने वाले हैं। लेकिन यह आग्रह करने वाले कतिपय साथी ऐसे भी हैं, और वे काफी आक्रामक हैं, जो केजरीवाल की मजबूती में मोदी की मजबूती देखते हैं। वे समझते हैं उनकी इस समझ को कोई समझ नहीं रहा है। वे केजरीवाल को मजबूत करना चाहते हैं, ताकि 'भ्रष्ट' कांग्रेस और 'जातिवादी' क्षत्रप आगे कभी मोदी के आगे सिर न उठा पाएं। उनकी नजर में मोदी दमदार नेता हैं, जिन्होंने विकास और प्रशासन को पटरी पर ला दिया है। केजरीवाल के ऐसे समर्थकों से हमारा कोई सवाल नहीं है। लेकिन केजरीवाल के समर्थक उन साथियों से जरूर सवाल है जो एक बार फिर केजरीवाल में मोदी की काट देख रहे हैं और दूसरों को भी वह 'सच्चाई' दिखाने पर आमादा हैं। ऐसे साथियों का प्रबल आग्रह है कि धर्मनिरपेक्षता को बचाना है तो दिल्ली में भाजपा को हराना होगा, जो 'आप' ही कर सकती है। उनका तर्क है कि सारे तर्क छोड़ कर 'आप' का समर्थन करना है।

सांप्रदायिक ताकतों ने पूर्ण बहुमत से 'दिल्ली' जीत ली है। यह उनकी अभी तक की पराकाष्ठा है। 'दिल्ली' के भीतर दिल्ली राज्य, जिसे पूर्ण राज्य का दर्जा भी नहीं है, के चुनाव में 'आप' की जीत से पराकाष्ठा पर पहुंची सांप्रदायिक ताकतों का पराभव शुरू हो जाएगा — साथियों की यह मान्यता हैरान करने वाली है। दरपेश सांप्रदायिक फासीवाद के प्रति साथी भले ही वे गंभीर चिंता जताते हों, संकट की प्रकृति पर उनकी पकड़ मजबूत नहीं कही जा सकती।

हम मानते हैं और कई बार कह चुके हैं कि यह धर्मनिरपेक्षता पर अभी तक का सबसे बड़ा संकट है, जिसका भारतीय सभ्यता पर दूरगामी प्रभाव पड़ना है। इसलिए संकट का तात्कालिक समाधान भी ऐसा सोचना होगा, जिससे दूरगामी समाधान निकल सके। हमने 'आप' का समर्थन करने वाले साथियों से कहा कि सात वामपंथी पार्टियों ने दिल्ली के नागरिकों और शहर के लिए सभी जरूरी मुद्दों पर एक कार्यक्रम बनाया है और उनमें पांच पार्टियों के 14 उम्मीदवार चुनाव लड़ रहे हैं। उन्होंने इसे एक निरर्थक कार्रवाई मानते हुए कार्यक्रम या उम्मीदवारों में अपनी कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। हमने उनसे कहा कि दिल्ली के सभी धर्मनिरपेक्ष साथी धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के उम्मीदवारों के समर्थन में बाहर निकलें। धर्मनिरपेक्ष उम्मीदवारों को ज्यादा से ज्यादा समर्थन और वोट मिलने से न केवल उनका आगे काम करने का हौसला बढ़ेगा, इस पूरे चुनाव अभियान में नवउदारवादी—सांप्रदायिक गठजोड़ के संकीर्ण दायरे में घूमने वाली बहस में समाजवादी—धर्मनिरपेक्ष विचारधारा को कुछ जगह मिलेगी। लेकिन वे धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई, जो हारी जा चुकी है, की हार का डर दिखा कर जीत का भ्रम पालना चाहते हैं। इससे उनके कुछ करने के जज्बे की भले तसल्ली होती हो, धर्मनिरपेक्षता के मोर्चे पर और ज्यादा नुकसान ही होते जाना है।

नवउदारवादी व्यवस्था आगे बढ़ेगी तो सांप्रदायिकता भी आगे बढ़ेगी। उपनिवेशवादी दौर से हम यह सच्चाई जानते हैं और विभाजन की त्रासदी के रूप में उसका गहरा दंश झेल चुके हैं। नवउदारवाद, सांप्रदायिकता और सामाजिक न्याय—विरोध के घोल से तैयार भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन सबसे पहले और सबसे ज्यादा आरएसएस को फला है। चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले कुछ पूर्व उल्लिखित तथ्यों को संक्षेप में रखना मुनासिब होगा।

जिस मौजूदा सांप्रदायिक फासीवाद को लेकर साथी इस कदर चिंतित हैं वह अकेले आरएसएस की कामयाबी नहीं है। उसमें इंडिया अगेंस्ट करप्शन, भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन और 'आप' का मास्टर स्ट्रोक लगा है। यह स्पष्ट हो चुका है कि अण्णा हजारे से पहले केजरीवाल ने रामदेव को साधा था, जो उन्हीं की तरह शासक जमात में ऊंची हैसियत बनाने के लिए बेताब घूमते थे। न केवल अण्णा हजारे ने जंतर—मंतर से पहली प्रशंसा मोदी की की, रामदेव ने मोदी को हरिद्वार अपने आश्रम में बुला कर हिंदुओं का नेता घोषित किया। अण्णा हजारे इस्तेमाल के बाद अप्रासंगिक हो गए और रामदेव व केजरीवाल सत्ता के गलियारे में पहुंच गए। दिल्ली विधानसभा चुनाव में सफलता के बाद 'आप' के धर्मनिरपेक्षतावादी सदस्य प्रशांत भूषण ने कहा था कि 'आप' को सरकार बनाने के लिए कांग्रेस से नहीं, भाजपा से मुद्दा आधारित समर्थन लेना चाहिए। उनके पिता 'आप' के वरिष्ठ नेता शांति भूषण लंबे समय से

लालकृष्ण अडवाणी के राजनैतिक साथी हैं। केजरीवाल को 'छोटे गांधी' कहने वाली किरण बेदी ने उस समय कहा था कि 'आप' और भाजपा की विचारधारा एक है। यानी 'भारत की बेटी' पहले से ही 'भाजपा की बेटी' रही है। यह अकारण नहीं है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी रामदेव और केजरीवाल दोनों के प्रिय हैं। दोनों नरेंद्र मोदी, उनके द्वारा गुजरात में तैयार की गई हिंदुत्व की प्रयोगशाला, फरवरी 2002 में मुसलमानों के राज्य–प्रायोजित नरसंहार और उसे छिपाने के लिए किए गए षड़यंत्रों पर कुछ नहीं बोलते। न ही बाबरी मस्जिद ध्वंस के संविधान और सभ्यता विरोधी कृत्य के खिलाफ उनकी आवाज सुनाई देती है। यह तथ्य भी देखें कि 1984 में स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुई हजारों निर्दोष सिख नागरिकों की हत्या पर केजरीवाल सत्ता के गलियारे में पहुंचने के बाद से काफी राजनीति करते हैं। लेकिन घटना के वक्त और उसके बाद उन्होंने पीड़ितों के पक्ष में आवाज नहीं उठाई। 2006 में आई जस्टिस सच्चर कमेटी की रपट और सिफारिशों को लेकर 'आप' भाजपा के साथ खड़ी रही है।

केजरीवाल 'बदनाम' कांग्रेस से पीछा छुड़ाने के लिए मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देकर बनारस चुनाव लड़ने जा पहुंचे ताकि नरेंद्र मोदी की जीत सुनिश्चित की जा सके और उसके बदले में भाजपा में शामिल होकर या बाहर से समर्थन लेकर पक्के मुख्यमंत्री बन सकें। तब किसी को पता नहीं था कि भाजपा को पूर्ण बहुमत मिल जाएगा। सारे कयास 160 से लेकर 180 सीटों तक लगाए जा रहे थे। आम चुनाव और उसके बाद कुछ राज्यों में मिली चुनावी सफलता के चलते भाजपा ने जोड़–तोड़ की सरकार बनाने के बजाय अंतत: चुनाव में जाने का फैसला किया। केजरीवाल का गणित गड़बड़ा गया और मोदी ने उन्हें घास नहीं डाली। फिर भी केजरीवाल ने पटरी बैठाने के लिए 'केंद्र में पीएम मोदी, दिल्ली में सीएम केजरीवाल' का नारा फेंका जो चल नहीं पाया। मोदी अगर बनारस से हारते तो उनकी जीत का वजन आधा रह जाता।

लालकृष्ण अडवाणी कई बार कह चुके हैं कि देश में कांग्रेस और भाजपा दो पार्टियां होनी चाहिए। मनमोहन सिंह ने भी उनकी यह बात दोहराई है। नरेंद्र मोदी का सोचना अलग है। वे कांग्रेसमुक्त भारत का संकल्प लेकर चल रहे हैं। आम चुनाव में कांग्रेस को अभी तक का सबसे बड़ा धक्का देने के बाद दिल्ली की चुनावी रैली में उन्होंने कांग्रेस का जिक्र ही नहीं किया। उन्होंने मुकाबले में 'आप' को संबोधित किया। संदेश साफ है कि कांग्रेस के परंपरागत मतदाता भाजपा को वोट नहीं दे सकते तो 'आप' को वोट दे दें। दिल्ली में 'आप' की लड़ाई भी कांग्रेस के साथ है। दिल्ली के पिछले विधानसभा चुनाव में कांग्रेस के खिलाफ 'आप' और भाजपा का वोट साझा था। इस बार वैसी स्थिति नहीं है। जिन्होंने केजरीवाल को दिल्ली का सीएम बनाया था, उन्होंने केंद्र में मोदी को पीएम बना दिया है। जाहिर है, अब उनका मोदी की मरजी का सीएम बनाने का प्रयास रहेगा। इसीलिए 'आप' के कई नेता–कार्यकर्ता भाजपा में शामिल हो गए हैं। दोनों के बीच यह आवाजाही आगे भी जारी रहेगी।

यहां एक और तथ्य पर गौर किया जा सकता है। राजनीति में पार्टियों और नेतृत्व की नीतियों के आधार पर आलोचना और विरोध होना चाहिए। केजरीवाल ने कांग्रेस और उसके

नेतृत्व की नवउदारवादी नीतियों की आलोचना और विरोध न करके, उन्हें बदनाम करने का जबरदस्त अभियान चलाया। बदनाम करने की 'कला' में आरएसएस को महारत हासिल है। कांग्रेस की बदनामी के माहौल में आरएसएस का काम आसान हो गया और 'आप' को सत्ता की राजनीति (पावर पोलिटिक्स) में आसानी से प्रवेश मिल गया। आशय यह कि भाजपा और 'आप' का एक साथ उत्थान सम्मिलित उद्यम की देन है।

'आप' ने पिछले दिनों हुए कुछ राज्यों के विधानसभा चुनावों में हिस्सा न लेकर दिल्ली पर फोकस करने का निर्णय लिया। 'आप' के नेताओं की विशेषज्ञता धन और स्ट्रेटेजी बनाने में है। इन दो के सहारे उसने दिल्ली में अपने पक्ष में माहौल बनाया है और चुनाव में भाजपा के मुकाबले में आ गई। धर्मनिरपेक्षता के जो दावेदार 'आप' पर दांव लगा रहे हैं, उन्हें देखना चाहिए कि दिल्ली में 'आप' की जीत होने पर अन्य राज्यों में भी यह रणनीति दोहराई जाएगी। तब साथी भाजपा को हराने के लिए 'आप' को जिताने का आग्रह करेंगे। इस प्रक्रिया में नवउदारवाद का विरोध करने वाली पार्टियों, भले ही उनकी धर्मनिरपेक्ष साख कितनी ही हो, को चुनाव के मैदान से बाहर रहना होगा। इस तरह धर्मनिरपेक्षता किनारे होती जाएगी और नवउदारवादी—सांप्रदायिक ताकतों का गठजोड़ नए रूप में ज्यादा मजबूत होता जाएगा। तब भाजपा और 'आप' के नेता अडवाणी और मनमोहन सिंह की तरह कह सकते हैं कि देश में ये दो पार्टियां ही होनी चाहिए। नवउदारवाद की अंधी छलांगों से अगर देश का नक्शा आमूल—चूल बदलेगा तो राजनीति का नक्शा भी आज जैसा नहीं रहेगा। 'आप' के समर्थन का आग्रह करने वाले धर्मनिरपेक्ष साथियों को इस पर गंभीरता से विचार कर लेना चाहिए। कुछ धर्मनिरपेक्ष नेताओं ने यह सोच कर 'आप' को समर्थन दिया है कि दिल्ली में 'आप' के हाथों भाजपा की हार होने से उनके राज्यों में उनकी पार्टियों की जीत की संभावना मजबूत हो जाएगी। उन्हें भी अपने फैसले के दूरगामी परिणाम पर विचार करना चाहिए।

दरअसल, धर्मनिरपेक्षता जैसे संविधान सम्मत मूलभूत मूल्य को लेकर फुटकर व्यवहार नहीं चल सकता। वह मुकम्मल व सर्वस्वीकृत बना रहे, इसके लिए नई राजनीति की जमीन तैयार करते रहना होगा। ऐसी राजनीति का कोई भविष्य नहीं है, ऐसा कहने वाले साथियों को इतना ध्यान जरूर देना चाहिए कि उसी राजनीति से धर्मनिरपेक्षता का भविष्य बना रह सकता है।

धर्मनिरपेक्षता की कसौटी केवल यह नहीं हो सकती कि भाजपा के खिलाफ मुसलमानों के वोट कौन ले जाता है?न ही यह कि फलां व्यक्ति विचार से सांप्रदायिक नहीं है। नरेंद्र मोदी का चुनाव प्रचार करने वाली मायावती, कल्याण सिंह के साथ मिल कर सरकार बनाने वाले मुलायम सिंह यादव, भाजपा के साथ लंबे समय तक गठबंधन चलाने वाले जन (यू) के नेतागण, भाजपा के साथ समय—समय पर सरकार चलाने वाले नवीन पटनायक, चंद्रबाबू नायडू, करुणा निधि, ओमप्रकाश चौटाला, ममता बनर्जी, जयललिता आदि नेताओं को वैचारिक रूप से धर्मनिरपेक्ष ही कहा जाएगा। लेकिन हम उनकी आलोचना करते हैं कि वे सत्ता के लिए सांप्रदायिक राजनीति करते हैं। राजनीतिक आचरण धर्मनिरपेक्षता की कसौटी होता है। भारत में सांप्रदायिकता के बरक्स धर्मनिरपेक्षता के संघर्ष की लंबी परंपरा है। उस संघर्ष में गांधी

की हत्या भी हो जाती है। लेकिन मजेदारी देखिए केजरीवाल सांप्रदायिक तत्वों के साथ जितनी और जैसी सांठ–गांठ करें, धर्मनिरपेक्षतावादी उन्हें कुछ नहीं कहते। उल्टा उन्हें धर्मनिरपेक्षता का रक्षक बताते हैं।

अब जबकि यह साफ हो चुका है कि 'आप' वास्तव में राजनीतिक पार्टी न होकर, चुनाव जीतने के लिए जुटे निपट सत्ता–स्वार्थी लोगों का गिरोह है, कई बार अपनी पार्टियों की कीमत पर साथी केजरीवाल का बचाव करने को तैयार नजर आते हैं। इसे केजरीवाल की बड़ी कामयाबी कहा जाएगा कि धर्मनिरपेक्षतावादी उनके सौ खून माफ करने को हमेशा तैयार हैं। जबकि वे हमारे जैसे सामान्य कार्यकर्ता को कलम, जबान या आचरण की जरा–सी चूक पर तंदूरी मुर्गे की तरह मार कर लटका देंगे!

'आप' का समर्थन करने का दबाव बनाने वाले साथियों की पृष्ठभूमि विचारधारात्मक प्रतिबद्धता की रही है। जबकि 'आप' खुले बाजार की खुली पार्टी है। विचारधारात्मक और संगठनात्मक बंधन उस पर आयद नहीं होते। राजनीतिशास्त्र के एक विद्वान ने 'आप' को विचारधारा की कसौटी पर कसने वाले 'विचारधारात्मक योद्धाओं' (आइडियोलोजिकल वारियर्स) की अपने एक लेख में कड़ी खबर ली थी। और भी कई विद्वान 'आप' के सहयात्री बने हुए हैं। विचारधाराविहीन राजनीति का यह 'आदर्श प्रयोग' उन्हें सांप्रदायिकता समेत सभी समस्याओं के लिए रामबाण नजर आता है। हैरत की बात है कि वे यह देखने–सुनने को कतई तैयार नहीं हैं कि मौजूदा प्रधानमंत्री और केंद्र सरकार को पूर्ण बहुमत से कायम करने में इस 'आदर्श प्रयोग' ने निर्णायक भूमिका निभाई है। राजनीतिशास्त्र व अर्थशास्त्र के विद्वान भी राजनीतिक मानस से रहित हो सकते हैं! दरअसल, अपने को विचारधारा–मुक्त कहने वाले आज की प्रचलित विचारधारा कारपोरेट पूंजीवाद के समर्थक होते हैं। जब से 'आप' बनी है यह विवाद होता रहता है कि कौन किसका मोहरा है। भाजपा की सीएम उम्मीदवार बनने पर किरण बेदी को मोदी का मोहरा बताया गया है। हकीकत में ये सब नवसाम्राज्यवाद के मोहरे हैं।

इस 'आदर्श प्रयोग' ने करीब दो दशक के वैकल्पिक राजनीति की अवधारणा और संघर्ष को दो–तीन साल में ही बुरी तरह क्षतिग्रस्त कर दिया है। हो सकता है धर्मनिरपेक्षतावादी साथी इसे कोई बड़ा नुकसान नहीं मानते हों, यह मान कर कि इसकी भरपाई कर ली जाएगी। लेकिन उनकी धर्मनिरपेक्षता की चिंता भी सच्ची नजर नहीं आती। यह सही है कि सेकुलर कह जाने वाली पार्टियों और नेताओं ने धर्मनिरपेक्षता के मूल्य को छलनी कर दिया है। वे इस कदर अपनी साख गंवा चुके हैं कि मोदी/शाह देश–विदेश में सरेआम उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। केजरीवाल नवउदारवाद का पक्ष ले या सांप्रदायिकता का – उसे धर्मनिरपेक्षतावादियों का अभय प्राप्त है। नवउदारवाद और सांप्रदायिकता के गठजोड़ की राजनीति में जगह बनाने के लिए वह किसी भी हद तक जा सकता है। उसे पता है उसे कोई कुछ नहीं कहेगा। अलबत्ता, सांप्रदायिक ताकतों को रोकने के नाम पर केजरीवाल के समर्थन का आग्रह करने वाले एक दिन अपनी साख गंवा बैठ सकते हैं।

दो फरवरी की शाम को आकाशवाणी से प्रसारित मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय राजनीतिक दलों का चुनाव प्रसारण सुना। कांग्रेस, सीपीआई, सीपीएम और राष्ट्रवादी कांग्रेस के प्रसारणों में दिल्ली शहर में सांप्रदायिक माहौल बिगाड़ने की कोशिशों का प्रमुखता से जिक्र और सांप्रदायिक ताकतों को चुनाव में परास्त करने की अपील की गई थी। भाजपा और आम आदमी पार्टी के प्रसारण में बाकी जो भी कहा गया हो, शहर में होने वाली सांप्रदायिक घटनाओं पर एक शब्द भी नहीं था। 'आप' का प्रसारण मनीष सिसोदिया ने 'हिंदू हित' का पूरा ध्यान रखते हुए पढ़ा और सरकार बनाने की दावेदारी ठोकी। किसी धर्मनिरपेक्षतावादी ने इस नाजिक्री (ओमिशन) पर सवाल नहीं उठाया है। बल्कि चुनावपूर्व सर्वेक्षणों में 'आप' की जीत की प्रबल संभावना को देखकर अपना पूरा वजन 'आप' के पक्ष में डाल दिया है। उन्होंने अरविंद केजरीवाल को हिंदुओं की भावनाओं का खयाल रखने की पूरी आजादी दी हुई है। वे जानते हैं चुनाव अकेले मुसलमानों के वोटों से नहीं जीता जा सकता।

हमने चुनाव प्रसारण का यह प्रसंग धर्मनिरपेक्षता—सांप्रदायिकता के सवाल पर चर्चा करने के लिए नहीं लिया है। बल्कि धर्मनिरपेक्षता को बचाने की आड़ में होने वाली एक बड़ी राजनीतिक तब्दीली पर संक्षेप में विचार करने के लिए यह प्रसंग उठाया है। मार्क्सवादियों, समाजवादियों, सामाजिक न्यायवादियों, गांधीवादियों और नागरिक समाज के बहुत—से लोगों की अरविंद केजरीवाल की जीत के पक्ष में एकजुटता भारत और दुनिया के कारपोरेट प्रतिष्ठान की बड़ी उपलब्धि है।

मनमोहन सिंह के बाद कांग्रेस कारपोरेट प्रतिष्ठान के खास काम की नहीं रह गई है। कांग्रेस राहुल गांधी से चिपकी है और कारपोरेट उन पर मनमोहन सिंह और नरेंद्र मोदी जैसा भरोसा नहीं कर सकता। दलितों और आदिवसियों को आर्थिक मुद्दों पर कांग्रेस के साथ जोड़ने के राहुल गांधी के प्रयास कारपेारेट प्रतिष्ठान के रजिस्टर में दर्ज हैं। कारपोरेट प्रतिष्ठान वंचितों के हित की दिखावे की अथवा टोकन राजनीति भी बरदाश्त करने को तैयार नहीं है। अलबत्ता, उनका सांप्रदायीकरण करने की राजनीति उसे माफिक आती है।

कारपोरेट प्रतिष्ठान को अब सोनिया गांधी पर भी भरोसा नहीं है, जो सलाहकारों के 'दबाव' में गरीबों के लिए थोड़ी—बहुत राहत की व्यवस्था करवा देती हैं। उसे जैसे मनमोहन सिंह के साथ और उनके बाद मोदी चाहिए थे, मोदी के साथ और उनके बाद केजरीवाल चाहिए। कारपोरेट पूंजीवाद की कोख से पैदा एक ऐसा शख्स जो देश की मेहनतकश जनता की आंखों में धूल झोंक कर सफलतापूर्वक कारपोरेट प्रतिष्ठान का हित साधन करे। कारपोरेट प्रतिष्ठान को अब अपने बचाव के लिए 'सेफ्टी वाल्व' नहीं चाहिए। प्रगतिशील व धर्मनिरपेक्ष खेमा उसके पक्ष में एकजुट हो गया है।

कारपोरेट प्रतिष्ठान यह जानता है कि कांग्रेस ने धर्मनिरपेक्षतावादियों को प्रश्रय देकर उनका समर्थन पाया है। इस तरह फलाफूला धर्मनिरपेक्षतावादी खेमा मोदी की जीत से एकाएक समाप्त नहीं हो जा सकता। उन्हें कांग्रेस के अलग किसी और के साथ जोड़ना होगा। वे मजबूती से केजरीवाल के साथ जुट गए हैं। कल तक जो सोनिया के सेकुलर सिपाही थे, अब निस्संकोच केजरीवाल के सेकुलर सिपाही हैं। कहने की जरूरत नहीं कि धर्मनिरपेक्षतावादियों का केजरीवाल को बिना शर्त समर्थन दिल्ली विधानसभा के इस चुनाव में ही नहीं है। वे शुरू से केजरीवाल के समर्थन में हैं। हालांकि उन्हें मार्क्सवादी/समाजवादी/गांधीवादी आदि बताने या बनाने की बात अब वे नहीं करते। उन्हें इसी में तसल्ली है कि केजरीवाल क्रोनी पूंजीवाद के खिलाफ है।

यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि दिल्ली विधानसभा चुनाव में 'आप' की जीत से सांप्रदायिक भाजपा पर कितनी रोक लगेगी और धर्मनिरपेक्ष पार्टियों को दूसरे राज्यों के चुनावों में कितना फायदा होगा। लेकिन इतना निश्चित है कि राजनीतिक विमर्श से समाजवादी विचारधारा और ज्यादा हाशिए पर चली जाएगी। विचारधारा विहीनता का तमाशा और तेजी से जोर पकड़ेगा। चुनाव और तेजी से गरीबों के साथ छल—कपट का पर्याय बनेंगे।

अभी तो संभावना नजर नहीं आती, लेकिन अगर आगे की किसी पीढ़ी ने नवसाम्राज्यवादी गुलामी की तह में जाकर पता लगाने की कोशिश की, तो उसे पता चलेगा कि अकेले नवउदारवादी इसके लिए जिम्मेदार नहीं थे। देश की मुख्यधारा राजनीति में एका बना था, जिसके तहत नवसाम्राज्यवादी गुलामी आयद हुई। भारत के बुद्धिजीवियों, जो सभी प्रगतिशील व धर्मनिरपेक्ष खेमे से आते हैं, के 'गुलाम दिमाग के छेद' की ओर ध्यान दिलाने वाले किशन पटनायक ने कहा है, मनुष्य के लिए गुलामी की अवस्था सहज स्वीकार्य नहीं होती। हम यह दिल्ली विधानसभा चुनाव की पूर्व संध्या पर नहीं कह रहे हैं। लंबे समय से हमारा कहना है कि इस दौर में भारत की सबसे बड़ी अकलियत की बड़ी भूमिका है। हालांकि मुस्लिम नेतृत्व ने हमारी बात पर गौर नहीं किया है। हमारा अभी भी मानना है कि नवसाम्राज्यवाद के खिलाफ अगर कोई सच्चा संघर्ष होगा, तो वह अल्पसंख्यक समाज की मजबूती और भागीदारी से होगा। आशा करनी चाहिए ऐसा जरूर और जल्दी होगा।

दुनिया के किसी भी हिस्से में जब बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक या जातीय फसाद होते हैं या फासीवादी–तानाशाही अत्याचार होते हैं, तो सभी जगह औरतों के साथ यही सलूक होता है। चाहे कोई भी सभ्यता हो, कोई भी युग। आधुनिक सभ्यता वाले आधुनिक युग में भी औरतों के साथ बार–बार यही हुआ है। अलबत्ता बलात्कार के बाद औरतों को जान से मार देने की परिघटना गुजरात की अपनी है। इसके पीछे बलात्कारियों की सबूत मिटा देने की मंशा तो रही ही है, लिंग–भेद के परे मुसलमानों के प्रति घृणा की पराकाष्ठा भी कारण है। सावरकर–गोलवलकर के 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के अनुयायियों ने ये कैसे 'संस्कृति–पुरुष' तैयार किए है?संघ संप्रदाय के नेता जवाब दें कि क्या गोधरा की 'प्रतिक्रिया' का यह रूप भी उन्हें स्वीकार है?वे जवाब दें कि ज्यादातर बलात्कार के बाद मार दी गई और कुछ बच गई औरतों के लिए उनके हृदयकोश में क्या है?क्या वे इस कुकर्म का समर्थन करते हैं?(इसी पुस्तिका से)

गुजरात के बाहर ही नहीं, गुजरात के भुक्तभोगी मुसलमानों ने भी शुरू से ही लगातार संयम, सज्जनता और शालीनता का परिचय दिया। गुजरात के किसी मुसलमान ने गोधरा का जघन्य कांड करने वालों के पक्ष में आवाज नहीं उठाई। नरसंहार और आगजनी के बाद राहत कैंपों में आश्रय लेने वाले मुसलमान औरतों–मर्दों–बच्चों के चेहरों पर भय, पीड़ा और दीनता का भाव खुदा था, उग्रता कहीं नहीं थी। जबकि नरेंद्र मोदी से लेकर वाजपेयी तक ने गोधरा के बाद की नृशंसताओं का औचित्य प्रतिपादित करने में दिन–रात एक कर दिया। गुजरात में चुनावी दौरे पर गए वाजपेयी और अडवाणी ने नरेंद्र मोदी की 'लाइन' के पक्ष में ही अपने भाषण दिए। चुनाव के दौरान स्टार टीवी पर दिखाए गए 'बिग फाइट' कार्यक्रम में एमएस यूनिवर्सिटी, बड़ोदा के प्रोफेसर बंदूकवाला ने मर्मांतक पीड़ा झेलने के बावजूद जिस तरह की विवेकपूर्ण बातें कहीं, उनसे मुसलमानों का सामाजिक–सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चरित्र सांप्रदायिक हिंदुओं के बरक्स पाएदार और ऊँचा सिद्ध हुआ। इस सच्चाई को भारतीय राष्ट्र और उसकी मजबूती में विश्वास रखने वाले सभी नागरिकों को देखना और कहना चाहिए, क्योंकि संघ संप्रदाय उस सच्चाई को अपने चश्मे से देख कर विकृत करता है। (इसी पुस्तिका से)

लेखक के बारे में

डॉ. प्रेम सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में शिक्षक हैं और सोशलिस्ट पार्टी (इंडिया) के महासचिव हैं। देश के संविधान और मेहनतकश जनता पर पिछले दो दशकों से जारी नवउदारवादी हमले का सतत, सशक्त और मुकम्मल प्रतिरोध करने वाले सक्रिय समाजवादी कार्यकर्ता और विचारक के रूप में उनकी पहचान है। वे अपनी धारदार लेखनी से नवसाम्राज्यवाद के ताबेदार भारत के शासक वर्ग के संविधान–विरोधी व जन–विरोधी चरित्र की सच्चाई को खोल कर सामने रखते हैं। नवउदारवादी शक्तियों की सांप्रदायिक फासीवाद के साथ दुरभिसंधि की उन्होंने गहरी पड़ताल की है। विकल्पहीनता के दावों के बीच मजबूती के साथ समाजवादी विकल्प की संभावना को सामने रखते हैं। राजनीतिक चिंतन पर उनकी प्रमुख पुस्तक/पुस्तिकाएं हैं : 'मधु लिमये : जीवन और राजनीति' (1996), 'कट्टरता जीतेगी या उदारता' (2004), 'मिलिए योग्य प्रधानमंत्री से' (2004), 'उदारीकरण की तानाशाही' (2006), 'मिलिए हुकुम के गुलाम से' (2009), 'संविधान पर भारी सांप्रदायिकता' (2013), 'भ्रष्टाचार विरोध : विभ्रम और यथार्थ' (2015)।